समाजशास्त्र की मूल अवधारणा

(Basic Concepts of Sociology)

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,
तीनपानी बाई पास रोड़, ट्रान्सपोर्ट नगर के पास, हल्द्वानी– 263139
नैनीतान (उत्तराखण्ड)
फोन न0– 05946– 261122, 061123
टॉल फ्री न0– 18001804025
www.uou.ac.in **e-mail- info@uou.ac.in**

अध्ययन मण्डल

अध्यक्ष
कुलपति
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

संयोजक
निदेशक समाज विज्ञान विद्याशाखा

अध्ययन मण्डल के सदस्यों के नाम

1. **प्रो.जे.पी. पचौरी** (सदस्य), कुलपति, हिमालयन विश्वविद्यालय, जीवनवाला, देहरादून
2. **प्रो.सी.सी.एस. ठाकुर,** (सदस्य), प्रो.(से.नि.), रानी दुर्गावती, विश्वविद्यालय, जबलपुर, मध्यप्रदेश
3. **प्रो. रविन्द्र कुमार** (सदस्य), इग्नू, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली
4. **प्रो. रेनू प्रकाश** (सदस्य),समन्वयक, समाजशास्त्र विभाग, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी
5. **डॉ. भावना डोभाल** (मनोनीत सदस्य), सहायक प्राध्यापक (एसी),उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी
6. **डॉ. गोपाल सिंह** गौनिया (मनोनीत सदस्य), सहायक प्राध्यापक (एसी),उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

पाठ्यक्रम समन्वयक

प्रो. रेनू प्रकाश, समन्वयक, समाजशास्त्र, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

इकाई लेखन	इकाई संख्या
1. डॉ. दीपक पालीवाल, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी	3,5
2. डॉ. नीरजा सिंह, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी	4,12,13,14,15
3. डॉ. संजय कुमार, दिगम्बर पी.जी. कॉलेज, डिबाई बुलंदशहर	6,7
4. प्रो. इला शाह, समाजशास्त्र विभाग, एस.एस.जे. विश्वविद्यालय अल्मोड़ा	1,2

संपादन

प्रो. रेनू प्रकाश
समन्वयक
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

डॉ0 भावना डोभाल
सहायक प्राध्यापक (एसी), समाजशास्त्र
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

आई.एस.बी.एन. :
कापीराइट : उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
प्रकाशन वर्ष : 2023

प्रकाशन – उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, नैनीताल– 263139

नोट– सर्वाधिक सुरक्षित। इस प्रकाशन का कोई भी अंश उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,
हल्द्वानी

BASO (N) 120

समाजशास्त्र की मूल अवधारणा

(Basic Concepts of Sociology)

इकाई संख्या	अनुक्रमणिका	पृष्ठ संख्या
	खण्ड-1 समाजशास्त्र का उद्भव एवं विकास (Emergence & development of Sociology)	
इकाई1-	समाजशास्त्र के उद्भव एवं विकास की विविध अवस्थायें (Emergence of defferent stages of development of Sociology)	1-16
इकाई2-	भारत में समाजशास्त्र का उद्भव एवं विकास (Emergence & development of Sociology in India)	17-28
	खण्ड-2सामाजिक समूह एवं संस्थाएं (Social groups and Institutions)	
इकाई-3	सामाजिक समूह: अर्थ, परिभाषा एवं विशेषताएं (Social Group: Meaning, Definition and Characteristics)	29-36
इकाई-4	सामाजिक समूह :प्राथमिक एवं द्वितीयक (Social Groups: Primary and Secondary)	37-52
इकाई-5	समिति : अर्थ, विशेषताऐं एवं प्रकार (Association: Meaning, characteristics & types)	53-60
इकाई-6	संस्थाएं : अर्थ, विशेषताऐं एवं प्रकार- विवाह, परिवार एवं धर्म (Institutions- Meaning, characteristics & types: Marriage, Family and Religion)	61-86
	खण्ड-3 सामाजिक प्रक्रियायें (Social Processes)	
इकाई-7	सामाजिक प्रक्रियायें: अर्थ एवं प्रकार (Social Processes : Meaning & Types)	87-98
इकाई-8	सहयोग: अर्थ एवं प्रकार	99-106

	Co-operation: Meaning & Types	
इकाई-9	अनुकूलन: अर्थ एवं प्रकार Adaptation: Meaning & Types	107-112
इकाई-10	समायोजन: अर्थ एवं प्रकार Accommodation: Meaning & Types	113-119
इकाई-11	आत्मसात्यीकरण:अर्थ एवं विशेषताऐं (Assimilation: Meaning & characteristics)	120-126
इकाई-12	प्रतियोगिता: अर्थ, विशेषताऐं एवं स्वरूप (Competition: Meaning, characteristics & forms)	127-136
इकाई-13	संघर्ष :अर्थ, विशेषताऐं एवं स्वरूप (Conflict: meaning, characteristics & forms)	137-142
	खण्ड-4 समाजीकरण (Socialization)	
इकाई-14	समाजीकरण :अर्थ एवं विशेषताएं (Socialization: meaning & characteristics)	143-148
इकाई-15	समाजीकरण के स्तर, अभिकरण एवं सिद्धांत (Stages, agencies and theories of socialization)	149-160

इकाई-1 समाजशास्त्र के उद्भव एवं विकास की विविध अवस्थायें

(Emergence of defferent stages of development of Sociology)

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 समाजशास्त्र का उद्भव एवं विकास
1.2.1 समाजशास्त्र के विकास की प्रथम अवस्था
1.2.2 समाजशास्त्र के विकास की द्वितीय अवस्था
1.2.3 समाजशास्त्र के विकास की तृतीय अवस्था
1.2.4 समाजशास्त्र के विकास की चौथी अवस्था
1.3 सारांश
1.4 पारिभाषिक शब्दावली एवं उनके उत्तर
1.5 अभ्यास/बोध प्रश्न एवं उनके उत्तर
1.6 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
1.7 निबंधात्मक प्रश्न

1.0 उद्देश्य

1. समाजशास्त्र के उद्भव एवं विकास के प्राचीन इतिहास को जानना।
2. प्रारंभ में विभिन्न देशों, ग्रंथों आदि में समाजशास्त्र की उत्पत्ति एवं विकास को समझना।
3. उन्नींसवीं शताब्दी से पूर्व एवं पश्चात समाजशास्त्र. के विकास की प्रक्रिया को जानना।
4. आधुनिक समय में एक महत्वपूर्ण विकास के रूप में समाजशास्त्र विषय की वैज्ञानिक लोकप्रियता व अन्य विज्ञानों के विचारकों द्वारा भी अपने अध्ययन में समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण को किस प्रकार से प्रयोग में लाया जा रहा है, के आधार पर इसके महत्व को समझना।

1.1 प्रस्तावना

समाजशास्त्र की उत्पत्ति कब और कैसे हुई, इस संबंध में कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता, किंतु यह सत्य है कि जिस क्षण मानव का उदय पृथ्वी पर हुआ होगा, तभी से समाजशास्त्र भी उसके साथ आया होगा। प्रारंभिक रोटी, कपड़ा, महान जैसी भौतिक आवश्यकताओं के साथ धीरे–धीरे जीवन जीने के लिए सामाजिक (Social) आवश्यकताएं भी अनुभव की जाने लगी। यही कारण था कि समाज में व्याप्त समस्याओं, सामाजिक व्यवस्थाओं की ओर मानव का ध्यान आकर्षित हुआ और मानवीय चिंतन की प्रक्रिया प्रारंभ होने लगी, अर्थात् कोई भी विज्ञान शून्य से आरंभ नहीं हो सकता। यही बात समाजशास्त्र के साथ भी लागू होती है। बीयरस्टेट ने लिखा है–'Sociology has a long past but only a short History' अर्थात् समाज का अतीत काफी प्राचीन लेकिन इतिहास बहुत संक्षिप्त है। (Bierstedt-1970:3)

समाजशास्त्र को एक विज्ञान एवं स्वतंत्र विषय के रूप में लाने का श्रेय फ्रांसिसी विद्वान अगस्त कोंट को जाता है। जिन्होंने 1838 में इसे एक नवीन विज्ञान के रूप में प्रस्तुत् किया, लेकिन इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि आदिकालीन सामाजिक चिंतन (Earlist Social Thoughts) का समाजशास्त्र के उद्भव एवं विकास में अत्यधिक महत्व रहा है। जिज्ञासा मानव की मूल प्रवृत्ति है। आदिकालीन मानव को भी प्रत्येक वस्तु के विषय में जिज्ञासा रही होगी। संसार क्या है? जीवन क्या है? मनुष्य–मनुष्य के बीच पारिवारिक संबंधों का आधार क्या होना चाहिए? आदि–आदि और इन सभी पर उनके द्वारा चिंतन मनन किया गया होगा। चाहे तत्कालीन व्यवस्था के आधार पर ये व्यवस्थाएं लोकवार्ता पर केंद्रित थी। अतः स्पष्ट है कि आदिकालीन चिंतन का समाजशास्त्र की उत्पत्ति व विकास में महत्वपूर्ण योगदान रहा है, अर्थात् जिस समाज में मनुष्य रहा है उसके प्रति जानकारी प्राप्त करने कौतुहल हमेशा से ही उसे रहा है। इसीलिए सदियों से विभिन्न धर्मशास्त्रियों, दार्शनिकों तथा विचारकों ने जीवन के विषय में विचार प्रस्तुत् किए हैं। अतः स्पष्ट है कि समाजशज्ञस्त्र की जड़ें भारत के सांस्कृतिक ग्रंथों–वेद, पुराण, उपनिषद, पुराण, नीतिशास्त्र, महाकाव्य एवं स्मृतियों में बहुत विस्तार से फैली हुई हैं। अतः इसके उद्भव एवं विकास के विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन निम्नवत् किया गया है।

1.2.1 समाजशास्त्र के विकास की पहली अवस्था (First stage of Development of Sociology):

विद्वानों का मानना है कि समाजशास्त्र के विकास की प्रथम अवस्था यूनानी समाजशास्त्रियों से प्रारंभ होती है। जिसमें प्लेटो (Plato) व अरस्तू का नाम सर्वोपरि

है। विश्व के संपूर्ण साहित्य भंडार में प्लेटों की पुस्तक 'द रिपब्लिक' (The Republic) का अद्वितीय स्थान है। जिसका प्रधान विषय मानव समाज व्यवस्था, इसका परिचालन तथा जीवन को अच्छे ढंग से व्यतीत करना थाा। इसमें पारिवारिक जीवन, रीति–रिवाज, नगर राज्यों की व्यवस्था, समाज का वर्गीकरण शिक्षा स्त्रियों की स्थिति जैसे विषयों की चर्चा कर प्लेटो ने समाजशास्त्र की भूमिका तैयार की थी। समाज को तीन भागों में विभाजित कर इसका मुख्य आधार जन्मपरक न होते हुए कर्मपरक बतलाया गया। प्लेटो के ये विचार अत्यंत प्रगतिशील है जिसमें भारतीय संस्कृति की स्पष्ट छाप दिखलायी पड़ती है। जो आगे चलकर समाजशास्त्र के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुई।

तत्पश्चात प्लेटो के शिष्य अरस्तू यूनान के एक ऐसे प्रमुख सामाजिक विचारक हुए जिनके विचारों में हमें प्रौढ़ता के दर्शन होते हैं। अपनी कृति इथिक्स एंड पॉलिटिक्स' (Ethics and Politics) में इन्होंने राज्य, समाज, शिक्षा, क्रांति, शासन आदि पर विद्वतापूर्ण विवेचन प्रस्तुत् किया है। वे मानते थे कि ऐतिहासिक विकास में परिवार का स्थान मौलिक है और इन सब की जड़ में व्यक्ति है। व्यक्ति जब एक साथी का अनुभव करता है तब परिवार का जन्म होता है। परिवार में दासों को भी सम्मिलित किया जाता है। अनेक परिवार मिलकर ग्राम समुदायों का निर्माण करते हैं और अनेक ग्राम समुदायों के योग से राज्य का जन्म होता है।

उनका मानना था कि 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है।' (Man is a Social Animal) जो स्वयं के विकास के लिए समाज पर आश्रित होता है। जिसके कारण उसकी सामाजीकरण की प्रक्रिया पूरी होती है और यदि मनुष्य सामाजिक नहीं है तो वह मानव नहीं है, अर्थात् वह या तो मनुष्यता से ऊपर के स्तर का अर्थात् भगवान है या निम्न स्तर का अर्थात् पशु है। दोनों ही विद्वानों के विचारों में कहीं पृथकता भी देखने को मिलती है। प्लेटो मानते थे कि व्यक्ति का व्यवहार उसके समाज को निर्धारित करता है, जब कि अरस्तु के अनुसार व्यक्ति का व्यवहार समाज की प्रकृति को निर्धारित करता है।

अरस्तु के अनुसार–मानव को अपने भरण–पोषण, सुरक्षा, शिक्षा तथा व्यक्तित्व विकासके लिए प्रारंभ में परिवार तथा उसके बाद अपने समाज पर निर्भर रहना पड़ता है। चूंकि व्यक्ति के व्यवहार को नहीं बदला जा सकता। अतः समाज को बदला जाना भी असंभव है। अरस्तु ने सामाजिक जीवन के लिए सर्वप्रथम परिवार और इसके पश्चात राज्य को आधारभूत इकाई के रूप में रखा है। अरस्तू ने सामाजिक संबंधों का अध्ययन राजनीतिशास्त्र के अंतर्गत किया है। विद्वानों का मानना है कि यह इनका

कमजोर पक्ष रहा है। इनके द्वारा भी एक आदर्श सामाजिक व्यवस्था की ही कल्पना करना इनके रूढ़िवादी दर्शन को प्रस्तुत् करता है।

प्लेटो एवं अरस्तु के पश्चात समाजशास्त्रीय सिद्धांतों की चर्चा लुक्रेटियस, सिसरो, मारकस, आरोलियस, सेंट अगस्टाइन आदि द्वारा भी की गई है। लुक्रेटियस (Lucretius-96-55BC) ने सामाजिक उद्विकास (Social Evalution) के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। सिसरो की पुस्तक डी0 आफिकस' में यूरोप वासियों के लिए दर्शनशास्त्र, राजनीति, कानून तथा समाजशास्त्र संबंधी ज्ञान प्रस्तुत्त करती है। जिसमें समाज के कानूनी पक्ष को अधिक प्रबलता से दिखाए जाने के कारण गैर कानूनी पक्ष उपेक्षित रहे। इन्होंने राज्य तथा समाज के बीच भी अंतर स्पष्ट नहीं किया। तत्पश्चात विखण्डवादी विचारधारा का प्रभाव दिखायी देने लगा जो मनुष्य को भगवान की विशेष रचना मानते थे और उसके अनुसार समाज में व्याप्त समस्त नियमों का निर्माणकर्ता भी ईश्वर होता है। यह संसार उसी की मर्जी से संचालित होता है। इस विश्वास के कारण नियमों एवं विधानों को बदलने की कोशिश नहीं की जाती थी।

1.2.2 समाजशास्त्र के विकास की दूसरी अवस्था (Second Stage of Development)

तेरहवीं शताब्दी तक समाज व सामाजिक समस्याओं से संबंधित विचार आते रहे जिसमें सामाजिक जीवन से संबंधित अधिकांश व्याख्याएं दर्शन व धर्म पर केंद्रित थी। कहने का तात्पर्य यह है कि विकास के द्वितीय चरण के प्रारंभ में मानव मस्तिष्क के एक ओर दर्शन् तथा दूसरी ओर कल्पना हावी थी। जिसमें प्रत्येक घटना को धर्म से जोड़कर प्रमुख कारण ईश्वर या आलौकिक शक्तियों को माना जाता था। धीरे–धीरे इस अवस्था के अंतिम चरण में कुछ ऐसे विचारकों के चिंतन मिलते हैं। जिन्होंने धर्म, दर्शन, कल्पना के स्थान पर तर्क को महत्व दिया और प्रत्येक सामाजिक घटना के घटित होने के कार्य–कारण संबंधों को तार्किकता के आधार पर जानने का प्रयास किया जाने लगा। विद्वानों द्वारा अनुभव किया जानेन लगा कि अन्य प्राकृतिक वस्तुओं की तरह ही सामाजिक जीवन या समाज भी स्थिर न होकर परिवर्तनशील है। इनके पीछे कुछ निश्चित नियम होते हैं अर्थात् दार्शनिक व आध्यात्मिक दृष्टिकोण के स्थान पर तार्किकता व वैज्ञानिकता के आधार पर घटनाओं को समझने का प्रयास प्रारंभ हुआ। थॉमस एक्यूनस तथा दांते की कृतियों में इस प्रकार के अध्ययन दिखाई देते हैं। ये व्यक्ति को एक सामाजिक प्राणी व समाज को परिवर्तनशील मानते हैं। जिसके लिए

कुछ आधारभूत नियम तथा शक्तियां होती हैं। अतः इन विचारकों के चिंतन में वैज्ञानिकता का प्रभाव था।

15वीं शताब्दी से प्राकृतिक घटनाओं के अध्ययन में वैज्ञानिक विधि को आधार बनाया जाने लगा। यही कारण था कि पूर्व प्रचलित ईश्वरीय व काल्पनिक विश्वासों में कभी आने लगी। इस अवस्था में प्राकृतिक विज्ञान दर्शन का क्षेत्र अलग–अलग हो गया और समाज की विभिन्न घटनाओं या सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों का विशिष्ट तथा अलग से अध्ययन भी प्रारंभ होने लगा। जिस सरलता, सादगी, ईश्वरीय आस्था तथा कल्पना का सहारा लेकर पूर्व में व्यक्ति द्वारा जीवन निर्वह्न किया जाता था वह सभ्यता के विकसित होने के साथ ही जटिल होने लगी और इस प्रकार सामाजिक घटनाएं भी जटिलता के साथ–साथ विस्तृत होने लगी। इसका परिणाम यह हुआ कि विभिन्न सामाजिक घटनाओं एवं पक्षों का अलग–अलग एवं विशिष्ट अध्ययन आरंभ होने लगा। सामाजिक जीवन के अलग–अलग पक्ष जैसे आर्थिक, धार्मिक, राजनीति का अलग–अलग अध्ययन किया जाने लगा। जिसके फलस्वरूप अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र जैसे सामाजिक विज्ञानों की उत्पत्ति हुई।

इस प्रकार समाज और सामाजिक जीवन की चर्चा करने वाले विद्वानों में मारकस ओरोलियस, सेण्ट आगस्टाइन जॉन लॉक, रुसो, हाब्स माण्टेक्यू आदि का नाम उल्लेखनीय है। इसके द्वारा अपनी कल्पना के आधार पर अपने विचारों को प्रस्तुत् कर आदर्श तक पहुंचने का प्रयास किया गया लेकिन उनमें वास्तविकता का अभाव दिखाई पड़ता है। चूंकि वैज्ञानिक नियमों का मूल आधार वास्तविकता है। जिसमें निरीक्षण, परीक्षण, अवलोकन जैसी अनेक विधियों का लागू होना नितांत आवश्यक होता है। काल्पनिक निष्कर्ष का कोई महत्व नहीं होता।

अब 16वीं शताब्दी में विभिनन विद्वानों द्वारा राज्य एवं समाज के बीच पाए जाने वाले अंतर को स्पष्ट करना आरंभ किया गया। जिनमें मैकियावेली, सर थॉमस मूर, विको, माण्टेस्क्यू आदि विद्वान प्रमुख हैं। जिन्होंने दिन–प्रतिदिन की सामाजिक समस्याओं, व्यक्ति पर इनका प्रभाव आदि का वर्णन किया है। जैसे–मैकियावेली ने अपनी पुस्तक 'दि प्रिंस' में राज्य को सफलतापूर्वक चलाने के सिद्धांतों को ऐतिहासिक आंकड़ों के आधार पर प्रस्तुत किया है। थॉमस मूर ने अपनी कृति 'यूटोपिया' (1545) में एक आदर्श सामाजिक व्यसवस्था तथा दिन–प्रतिदिन की सामाजिक घटनाओं का वर्णन किया है। विको द्वारा लिखित पुस्तक 'द न्यूज साइंस' में स्पष्ट किया गया है कि समाज कुछ निश्चित कानून व नियमों के अधीन होता है। इन कानूनों को निरीक्षण द्वारा ही समझा जा सकता है। बाह्य तत्व किस प्रकार व्यक्ति के सामाजिक जीवन को

प्रभावित करते हैं। इससे माण्टेस्क्यू द्वारा अपनी कृति 'द स्पिरिट ऑफ लॉज' में दर्शाया गया है।

अतः द्वितीय चरण का अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि प्रारंभिक सामाजिक विचारकों की विचारधारा नैतिकता में रूचि रखती है। इस कारण यहां वैज्ञानिकता का अभाव दिखाई पड़ता है। 19वीं शताब्दी में फ्रेंच दार्शनिक तथा समाजशास्त्री अगस्त कोंट उपरोक्त वर्णित कमियों को दूर करते हुए समाजशास्त्र की व्यवस्थित व वैज्ञानिक नीवं रखी और बतालया कि विभिन्न विज्ञानों के विकास का एक निश्चित क्रम रहा है। जिसमें समाजशास्त्र सर्वाधिक आधुनिक एवं पूर्ण विज्ञान है और एक पृथक विज्ञान के रूप में इसकी चर्चा उन्होंने 'पॉजीटिव फिलॉसफी' (1838) में की।

1.2.3 समाजशास्त्र के विकास की तीसरी अवस्था (Third stage of Development)

समाजशास्त्र के उद्‌भव एवं विकास की अवस्था मुख्य रूप से कॉम्टे से प्रारंभ होती है, क्योंकि इसमें कोंट का योगदान सर्वाधिक है। इन्होंने ही समाजशास्त्र को एक व्यवस्थित विज्ञान का रूप दिया और सर्वप्रथम 'समाजशास्त्र' शब्द को गढ़ा। जिस कारण उन्हें समाजशास्त्र का जनक (Father of Sociology) 1798 में फ्रांस में जन्मे का 19वर्ष की आयु में सेंट साइमन (Saint Simon) से परिचय हुआ और उनका यह साथ लगभग छः वर्षों तक रहा। साइमन समाजवादी विचारक थे जो ये मानते थे कि सामाजिक विचारों के आधार पर एक ऐसा विज्ञान होना चाहिए जिसमें समाज के सभी पहलुओं पर चिंतन किया जा सके। इसी से प्रेरित होकर कोंट ने समाजशास्त्र के विचार की कल्पना की। कोंट के विचारों पर फ्रांस की राज्यक्रांति (Franch Revolution) का सर्वाधिक प्रभाव दिखाई पड़ता है। इस क्रांति के कारण फ्रांस के समाज एवं सामाजिक स्तर की अवस्था अत्यधिक दयनीय एवं सोचनीय थी। चारों ओर शोषण का बोलबाला था। इन परिस्थितियों ने कोंट को समाज व उसकी व्यवस्था के विषय में सोचने की प्रेरणा दी और वे मानने लगे कि जिस प्रकार भौतिकशास्त्र के नियम अपरिवर्तनशील होते हैं उसी प्रकार समाजशास्त्र के नियमों को भी परिवर्तित नहीं किया जा सकता। इसलिए आरंभ में इस विज्ञान को 'सामाजिक भौतिकशास्त्र' (Social Physics) नाम दिया गया। बाद में कोंट ने अनुभव किया कि समाजशास्त्र की विषयवस्तु तो व्यक्ति और समाज है। जिसकी प्रकृति परिवर्तनशील है। अतः व्यक्ति और समाज के लिए जो भी नियम बनेंगे उनमें परिवर्तन तो होगा ही इसलिए 1838 में पहली बार 'समाजशास्त्र' (Sociology) शब्द का प्रयोग किया गया।

कोंट का मानना था कि विज्ञानों की एक सोपान परंपरा (Hierarchy of Science) है जिसमें गणित (Mathematics) सबसे आगे, सभी विज्ञानों का आधार तथा शिक्षा रूप में है। समाजशास्त्र इन सभी विज्ञानों के ऊपर है क्योंकि मानव चिंतन के विकास में गणित का ज्ञान सबसे पहले हुआ, जबकि अंकगणित (Arithemtic), बीजगणित (Algebra), रेखागणित (Geometry) और यांत्रिकी (Mechanics) चार भागों में विभाजित किया। विकास क्रम की दृष्टि से गणित के पश्चात अन्य विज्ञान जैसे–नक्षत्र विज्ञान (Astronomy), भौतिकशास्त्र (Physics)., रसायनशास्त्र (Chemistry), जीवविज्ञान (Biology) और अंत में समाजशास्त्र (Sociology) आता है।

विकास क्रम के आधार पर उन्होंने स्पष्ट किया कि समाजशास्त्र अंतिम स्थान पर होने के कारण यह अपने से पूर्व पांच विज्ञानों पर आश्रित है और अन्य विज्ञानों की तुलना में इसमें निश्चितता भी कम है। कोंट के अनुसार–समाजशास्त्र का विषय सामाजिक नियमों व व्यवस्थाओं का पता लगाकर समाज को संगठित करना है। ऐसे में उन्होंने समाजशास्त्र को सामाजिक स्थितिशास्त्र (Social statics) एवं सामाजिक गतिशास्त्र (Social Bynamic) दो भागों में वर्गीकृत किया। समाज का वर्तमान स्वरूप, अवस्था, भिन्न–भिन्न रूप से कार्यरत सामाजिक नियम जो समाज पर अपना प्रभाव डालते हैं का अध्ययन सामाजिक स्थितशास्त्र में किया जाता है। इसमें समाज का अध्ययन उसके मूल रूप में ही होना चाहिए। अर्थात यह समाज की अपरिवर्तनशील दशाओं के अध्ययन पर आधारित है। जिसमें व्यक्ति, परिवार, समाज, राज्य, धर्म तथा नैतिकता को सम्मिलित किया गया है। इसी प्रकार सामाजिक गतिशास्त्र के अंतर्गत समाज में होने वाली प्रगति व परिवर्तन का अध्ययन होता है जिसमें पर्यावरण (Environment) प्रजाति (Race) राष्ट्र (Nation) और व्यक्ति (Individual) का अध्ययन प्रमुख है।

19वीं शताब्दी के समाजशास्त्रियों में कार्ल मार्क्स का नाम अग्रणीय है। अपने वर्ग संघर्ष (Class Conflict) और वर्ग विहीन (Classless Society) आदि सिद्धांतों की व्याख्या कर विकास की दशा को एक नई दिशा दी। मार्क्स के इन विचारों की गूंज समाज के प्रत्येक पहलू पर आज भी दिखायी देती है। हरबर्ट स्पेंसर के व्यक्तिवादी विचारों में राज्य और सावयवी सिद्धांत का अत्यधिक महत्व है। जिसमें उन्होंने कहा है कि सामाजिक घटना–वस्तु भी सरल से जटिल तथा समरूप से विषम रूप की ओर धीरे–धीरे विकसित होती है। आपने अपने सिद्धांत में समाज को एक मानवीय शरीर के रूप में माना है और सामाजिक घटना वस्तु की जैविक व्याख्या प्रस्तुत की है। इस अवस्था में मैक्स वेबर के योगदान की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इन्होनें अपने नौकरशाही (Bureaucracy) और धर्म का समाजशास्त्र' (Sociology of Religion) के सिद्धांत को प्रतिपादित कर पूंजीवाद और धर्म के

समन्वयात्मक अध्ययन के आधार पर पूंजीवाद के निर्माण और विकास में धर्म के महत्व को स्पष्ट किया और भारत, चीन एवं यूरोप के धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन भी किया।

इमाईल दुर्खीम (1858-1947) द्वारा भी समाजशास्त्र के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया गया है। ये समाजशास्त्र का अध्ययन अन्य सामाजिक विज्ञानों से अलग अध्ययन करने पर बल देते हैं और ये समाजशास्त्र को सामूहिक प्रतिनिधानों (Social Representative) का विज्ञान मानते हैं। ये ऐसे प्रतीक होते हैं जो समाज के अधिकांश लोगों द्वारा नियंत्रित होते हैं। जैसे–विचार, भावनाएं, व्यवहार के ढंग, धारणाएं आदि। इसके पश्चात् लीप्ले, वेस्टरमार्क, सिमेल, टॉनिज, वॉनविजे आदि प्रमुख समाजशास्त्रियों का भी समाजशास्त्र के विकास में महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

1.2.4 समाजशास्त्र के विकास की चौथी अवस्था (Fourth Stage of Development)

बीसवीं शताब्दी समाजशास्त्र के विकास के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण है। फ्रांस, जर्मनी अमेरिका में इस समय समाजशास्त्र का विकास तीव्रगति से हुआ। सामाजिक अनुसंधान (Social Research) पर विशेष बल दिया गया। व्यक्ति व समाज का अध्ययन करने वाले विषय के रूप में यह सर्वत्र चर्चित होने लगा और इसमें व्यक्ति एवं समाज के बीच पाए जाने वाले संबंधों को जानने के लिए व्यक्ति के सामुदायिक जीवन का अध्ययन किया जाने लगा। इस युग के प्रमुख समाजशास्त्रियों में रॉस, गिलिन, वार्ड, समनर, मैकाइवर, आगबर्न, यंग, गिन्सबर्ग, जैननिकी, थॉमस, सोरोकिन पार्क, बर्जेस, टॉयनवी, बेबलेन, पैरेटो, पारसंस आदि नामों की चर्चा प्रमुखता से होती है जिन्होंने सामाजिक मनोविज्ञान (Social Psychology), समुदाय (Community), ग्राम नगर भिन्नता (Rural Urban differences), सामाजिक पारिस्थितिशास्त्र (Social Ecology), परिवार (Family), जनरीतियां (Folkways) आदि के अध्ययन पर विशेष बल दिया।

समाजशास्त्रीय सिद्धांतों (Sociological Theories) में अमेरिकी समाजशास्त्री टॉलकॉट परसन्स व राबर्ट के0 मर्टन का नाम उल्लेखनीय है। मर्टन ने मध्यवर्ती सीमा सिद्धांतों (Middle Range Theory) की बात कही। जबकि पारसन्स ने समाज को एक व्यवस्था और सामाजिक क्रिया को इसकी आधारभूत इकाई के रूप में व्यक्त किया है। मैलीनास्सकी तथा रैडक्लिफ ब्राउन ने इस बात पर बल दिया कि सामाजिक–सांस्कृतिक तत्व (Socio-Cultural Elements) का अध्ययन संपूर्ण समाज एवं संस्कृति के संदर्भ में किया जाना चाहिए, क्योंकि प्रत्येक सामाजिक–सांस्कृतिक तत्व संपूर्ण सामाजिक व्यवस्था के लिए कुछ कार्य करते हैं तथा प्रकार्यात्मक आधार पर एक–दूसरे से जुड़े होते हैं और अपनी जीवन

व्यवस्था पर आश्रित होते हैं। अतः स्पष्ट है कि इन दोनों ने प्रकार्यवादी विचारधारा को व्यवस्थित करने में महत्वपूर्ण कार्य किया।

टायनबी का मानना था कि मानव को समय–समय पर प्रकृति द्वारा चुनौती मिलती रहती है। जिसका उत्तर देने के लिए प्रयत्न करने पड़ते हैं। परिणामस्वरूप सभ्यता विकसित होती है। इस संदर्भ में उन्होंने भारत, मिस्र, मलेक्शिया, चीन आदि सभ्यताओं के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। वे मानते थे कि चुनौतियां मुख्य रूप से प्राकृतिक ही होती हैं लेकिन ये सामाजिक और प्राणीशास्त्रीय (Social and Biological) भी हो सकती है। इसी प्रकार सोरोकिन द्वारा सामाजिक गतिशीलता (Social Mobility) का सिद्धांत, ब्लूमर, मीड़ तथा कूले ने प्रतीकात्मक अन्तःक्रियावाद (Symbolic-Interactionism) के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

1.3 सारांश–

वर्तमान में समाजशास्त्र का क्षेत्र अधिक विस्तृत व व्यापक हो गया है। इसकी विभिन्न शाखाएं जैसे–ग्रामीण समाजशास्त्र (Rural Sociology)] नगरीय समाजशास्त्र (Urban Sociology)] राजनीतिक समाजशास्सत्र (Political Sociology), शैक्षणिक समाजशास्त्र (Educational Sociology), धर्म का ससमाजशास्त्र (Sociology of Religion) मूल्यों का समाजशास्त्र (Sociology of values), ज्ञान का समाजशास्त्र (Sociology of knowledge), आर्थिक समाजशास्त्र (Economic Sociology), पारिवारिक समाजशास्त्र (Sociology of Family), कानून का समाजशास्त्र (Sociology of Law), औषधि का समाजशास्त्र (Sociology of Medicine), कला एवं साहित्य का समाजशास्त्र (Arts and Literature) खेल का समाजशास्त्र (Sociology of Sports) आदि प्रमुख हैं।

आधुनिक युग में समाजशास्त्र की लोकप्रियता व्यापक व विशुद्ध विषय के रूप में निरंतर बढ़ते जा रहा है। देखा जाए तो जीवन का प्रत्येक पहलू इसके अंतर्गत सम्मिलित है। इसकी प्रगति वैज्ञानिक (Scientific) एवं सांख्यिकीय (Statistics) अध्ययन की ओर अग्रसारित है। समाजशास्त्री इस बात पर बल दे रहे हैं कि सामाजिक जीवन का अध्ययन वैज्ञानिक ढंग से हो और प्राप्त परिणाम सार्वभौमिक व पारदर्शी हों, इसके लिए निरंतर अनुसंधान विधियों को प्रयोग में लाया जा रहा है। सामूहिक जीवन के अध्ययन में 'मनो–सामाजिक' (Psycho-Social) का स्थान अत्यधिक महत्वपूर्ण होता जा रहा है। औद्योगिक (Technological) और अनुंसधान विधियों (Research methods) के परिणामस्वरूप समाज में निश्चितता अधिक आ गई। साथ ही सामाजिक दर्शन (Social Philosophy) का महत्व भी समाजशास्त्र के विकास में कम नहीं है।

शायद इस बात को दोहराए जाने की आवश्यकता नहीं है कि समाजशास्त्र यूरोप में पैदा होकर अमेरिका में विकसित हुआ और सारी दुनिया में फैला। आज विश्व के अधिकांश विश्वविद्यालयों में यह विषय पढाया जा रहा है और लोगों की रुचि इसमें निरंतर बढ़ रही है। इसमें अनेकों शोध कार्य चल रहे हैं और साथ ही दूसरे सामाजिक विज्ञानों के लोगों द्वारा अपने अध्ययन में समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण को अपनाना इसकी बढ़ती लोकप्रियता की प्रमाणिकता को दर्शाता है।

1.4 पारिभाषिक शब्दावली

1. समाजशास्त्र–वह विज्ञान जो समाज का क्रमबद्ध, संगठित व व्यवस्थित अध्ययन करता है।
2. वितण्डवादी विचारधारा–वितण्डवादी विचारधारा का तात्पर्य उस विचारधारा से है जिसमें मनुष्य को भगवान की विशेष रचना व भगवान का प्रतिनिधि माना जाता है।
3. वैज्ञानिक नियम– वे नियम जिनका संबंध वास्तविकता, निरक्षण व तार्किकता से होता है। जिसमें कल्पना का कोई स्थान नहीं होता।
4. सामूहिक प्रतिनिधान–प्रत्येक समूह या समाज में पाए जाने वाले उन विचारों, भावनाओं एवं धारणाओं का कुलक (SET) जिन पर व्यक्ति अचेतन रूप से अपने विचारों, मनोवृत्तियों एवं व्यवहार के लिए करता है।

1.5 अभ्यास/बोध प्रश्न एवं उनके उत्तर

बोध प्रश्न–01

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए–

1. 'द रिपब्लिक' पुस्तक .....के द्वारा लिखी गई है।
   उत्तर–**प्लेटो**

2. पॉजीटिव फिलॉसफी की रचना अगस्त कोंट ने .....शताब्दी में की।
   उत्तर– **1838**

3. कोंट ने समाजशास्त्र को सामाजिक स्थितिशास्त्र व सामाजिक.....दो भागों में वर्गीकृत किया है।
   उत्तर–**गतिशास्त्र**

बोध प्रश्न–02

एक शब्द में उत्तर दीजिए–

I. समाजशास्त्र का जनक किस विद्वान को कहा जाता है?

उत्तर– अगस्त कोंट

II. 'समाजशास्त्र सामूहिक प्रतिनिधानों का समूह है।' यह किसने कहा?

उत्तर–दुर्खीम

III. सेण्ट साइमन किसके शिष्य थे?

उत्तर–अगस्त कोंट के

IV. प्रारंभ में समाजशास्त्र का नाम क्या रखा गया था?

उत्तर–सोशल फिजिक्स

बोध प्रश्न–03

निम्नलिखित पुस्तकों के लेखकों के नाम लिखो

1. प्रिंसिपल ऑफ सोशियोलॉजी

उत्तर–हरबर्ट स्पेंसर

2. सोसाइटी

उत्तर–मैकाइवर एवं पेज

3. द सोशियल स्ट्रक्चर ऑफ वैल्यूज
उत्तर–राधाकमल मुकर्जी

1.6 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. एस0 बघेल–उच्चतर समाजशास्त्रीय सिद्धान्त–साहित्य भवन आगरा, 2005
2. विद्याभूषण सचदेवा–समाजशास्त्र के सिद्धांत–किताबमहल, इलाहाबाद
3. लवानिया, एम0एम0–समाजशास्त्र–रिसर्च पब्लिकेशन्स, जयपुर, 2002
4. जे0पी0सिंह–समाजशास्त्र के मूल तत्व, प्रिंटिंग प्रेस हॉल ऑफ इण्डिया, दिल्ली, 2002

1.7 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. समकालीन समाजशास्त्रीय सिद्धांत–लवानिया, जयपुर, 2002
2. समाजशास्त्र–जी0के0अग्रवाल, आगरा, 2005
3. समाजशास्त्र का परिचय, उ0मु0वि0वि0, MASO, 501

1.8–निबंधात्मक प्रश्न

1–समाजशास्त्र की उत्पत्ति एवं विकास पर एक संक्षिप्त निबंध लिखिए।

2–समाजशास्त्र के उद्भव एवं विकास की चर्चा कीजिए।

3–उन्नींसवी तथा बीसवीं शताब्दी में समाजशास्त्र किस रूप में उभर कर आया, इसकी विचारपूर्वक विवेचना कीजिए।

इकाई-2 भारत में समाजशास्त्र का उद्भव एवं विकास
(Emergence & development of Sociology in India)

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 सारांश
2.3 पारिभाषिक शब्दावली
2.4 अभ्यास बोध प्रश्नों के उत्तर
2.5 संदर्भ ग्रंथ सूची
2.6 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
2.7 निबंधात्मक प्रश्न

2.0 उद्देश्य

- भारत में समाजशास्त्र के विकास की प्रक्रिया को समझना।
- भारतीय समाजशास्त्र के जनक के विषय में ज्ञान प्राप्त करना।
- भारतीय संदर्भ में समाजशास्त्र के विकास की प्रक्रिया किन किन चरणों से होकर गुजरी इसको जानना।
- भारतीय उन विचारकों को जानना जिन्होंने समाजशास्त्र की लोकप्रियता एवं विस्तार हेतु अपना योगदान दिया।

2.1 प्रस्तावना

समाजशास्त्र एक विज्ञान के रूप में उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध तथा बीसवीं सदी के प्रारम्भिक युग में विकसित हुआ है। इस प्रकार से भारत में भी सदियों पहले के विभिन्न ग्रन्थों में हमें तत्कालीन सामाजिक जीवन के बारे में जानने को मिलता है किन्तु औपचारिक रूप से 1917 में कलकत्ता विश्वविद्यालय में एक विषय के रूप में समाजशास्त्र का अध्ययन–अध्यापन शुरू

किया गया। प्रस्तुत इकाई में आप जानेंगे किस प्रकार से प्राचीन कृतियों से वर्तमान समय तक समाजशास्त्र का अलग–अलग अवस्थाओं में उद्‌भव एवं विकास हुआ है।

2.2 भारत में समाजशास्त्र का उद्‌भव तथा विकास

जैसा कि पूर्व में ही इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि समाजशास्त्र के विकास का इतिहास अत्यधिक प्राचीन है। जिज्ञासा और कौतुहल मानव समाज की मूल प्रवृत्ति है और जिज्ञासा को शांत करने के निरंतर प्रयास आवश्यक है। मानव के साथ ही समाज का जन्म हुआ और समाज की रचना तथा व्यवस्था में समाजशास्त्रीय सिद्धांतों की व्याख्या हुई। वेदों, उपनिषद्, पुराण, नीतिशास्त्र, महाकाव्य और स्मृतियां भारतीय संस्कृति के आधार है। वेद विश्व के आदि ग्रंथ हैं और इनका अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि भारतीय मनीषियों को समाजशास्त्र के संबंध में विस्तृत ज्ञान था। उल्लेखनीय है कि समाजशास्त्र की विषयवस्तु काफी प्राचीन है लेकिन यह अन्य सामाजिक विज्ञानों की तुलना में सबसे आधुनिक विषय है।

विभिन्न विद्वानों ने समाजशास्त्र के विकासक्रम को अलग–अलग चरणों के माध्यम से स्पष्ट किया है। जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। माना जाता है कि एक व्यवस्थित वैज्ञानिक रूप में समाजशास्त्र की नीवं फ्रेंच दार्शनिक अगस्त कोंट द्वारा डाली गई जो ये मानते थे कि विभिन्न विज्ञानों के विकास का एक निश्चित क्रम है। जिसमें समाजशास्त्र सबसे आधुनिक और अपने आप में पूर्ण विज्ञान है। कोंट ने पहले इस विज्ञान को 'सामाजिक भौतिकी' (Social Physics) की संज्ञा और बाद में इसको बदलकर सन् 1838 में नवीन विज्ञान के रूप में 'समाजशास्त्र' (Sociology) नाम से प्रस्तुत किया। इसी कारण उन्हें समाजशास्त्र का जनक (Father of Sociology) से विभूषित किया गया।

यूरोप से प्रारंभ होकर यह विषय फ्रांस, जर्मनी, अमेरिका में काफी लोकप्रिय हुआ और तीव्रता से इसका विकास सभी जगहों पर होने लगा और भारत भी इससे अछूता नहीं रहा। अतः अग्रिम चर्चा में भारत में इसके उद्‌भव एवं विकास की प्रक्रिया को जाना जाएगा।

भारत में समाजशास्त्र का एक विज्ञान के रूप में आगमन पश्चिमी देशों से ही हुआ है। अन्य देशों की तरह ही भारत में भी कुछ ऐसे विचारक हुए जिनकी कृतियों में हमें प्राचीन सामाजिक व्यवस्था की झलक मिलती है। कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र', मनु द्वारा रचित 'मनुस्मृति' आदि प्राचीन ग्रंथों से प्राचीन भारतीय समाज की जानकारी तो प्राप्त होती है लेकिन उनके स्वरूप को समाजशास्त्री नहीं माना जा सकता। बात यदि यूरोप विशेषांक फ्रांस और इंग्लैंड की करें तो समाजशास्त्र की उत्पत्ति का आधार औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप उत्पन्न

सामाजिक आर्थिक एवं राजनीतिक परिवर्तित दशाएं प्रमुख रहीं लेकिन भारत में औद्योगिक क्रांति बहुत देर से प्रारंभ हुई और समाजशास्त्र की उत्पत्ति पहले।

प्राचीन भारत में यद्यपि समाजशास्त्र का उद्भव एवं विकास हो चुका था लेकिन इसका आधुनिक व्यवस्थित स्वरूप नहीं था। भारत में 20वीं शताब्दी के आरंभ तक कोई भी ऐसा विज्ञान विकसित नहीं हो पाया था। जिसमें मानव–समाज की विभिन्न पहलुओं का वैज्ञानिक, क्रमबद्ध अथवा व्यवस्थित अध्ययन किया जाए। पश्चिमी समाजों की तुलना में भारत में समाजशास्त्र हाल ही की एक घटना है।

अब हम जानेंगे कि भारत में समाजशास्त्र की स्थापना कैसे हुई? भारत में यह विज्ञान 1917 में कलकत्ता विश्वविद्यालय में स्थापित हुआ। जिसके संस्थापक प्रो0 बृजेंद्रनाथ शील थे। इसके बाद बंबई विश्वविद्यालय में प्रो0 पैट्रिक गिड्डस (Patrick Geiddes) द्वारा 1919 में समाजशास्त्र का पहले अध्यापक के रूप में अध्यापन कार्य शुरू हुआ। सन् 1920 में मैसूर विश्वविद्यालय में इस विषय को बी0 ए0 की कक्षाओं में तीन प्रश्नपत्रों के साथ एक गौण (Subsidiary) विषय के रूप में पढ़ाया जाने लगा। 1921 प्रो0 राधाकमल मुकर्जी लखनऊ विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र व अर्थशास्त्र दोनों के विभागाध्यक्ष बने और यह विषय लखनऊ में भी प्रारंभ हो गया। आंध्रप्रदेश में 1923, मैसूर में 1928–29, 1951 में पटना, 1953 में अन्नामलाई, 1958 में उस्मानिया विश्वविद्यालय, 1954 में गुजरात, 1959 में दिल्ली आदि में यह विषय प्रारंभ हुआ, अर्थात् स्वतंत्रता के पश्चात इस विज्ञान का प्रचार–प्रसार तीव्रगति से होने लगा और वर्तमान में यह लगभग भारत के सभी क्षेत्रों में पृथक विषय के रूप में पढ़ाया जा रहा है। अनेक विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्रीय शोध (Sociological Research) एम0 एस0 डब्ल्यू, कानून एवं इंजीनियरिंग पाठ्यक्रमों में समाजशास्त्र को सम्मिलित किया जा रहा है। अतः भारत में समाजशास्त्र के विकास क्रम की यात्रा को निम्नवत् समझेंगेः–

जैसा कि स्पष्ट किया गया है कि भारत में समाजशास्त्र. का उदय 1917 में हुआ लेकिन इसका आधुनिक व्यवस्थित स्वरूप नहीं था। फिर भी समाजशास्त्रीय अध्ययन अन्य रूप में किया जा रहा था। भारतीय प्राचीन ग्रंथों जैसे–वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, स्मृति में अंतर्निहित विचारधारा, सामाजिक मूल्यों, आदर्शों तथा सामाजिक संस्थाओं के विषय में सुव्यवस्थित अध्ययनों को आयोजित करने की प्रवृत्ति धीरे–धीरे स्पष्ट होने लगी थी। यह भी अनुभव किया जा रहा था कि उपरोक्त धार्मिक ग्रंथों के अतिरिक्त यदि कौटिल्य के अर्थशास्त्र शुक्राचार्य के नीतिशास्त्र, मुगलकाल में रचित **'आईने अकबरी'** आदि का सुव्यवस्थित पुनर्वालोकन (Review) और विश्लेषण किया जाए तो तत्कालीन सामाजिक संस्थाओं, प्रथाओ, परंपराओं, आदर्शों, मूल्यों व व्यवस्थाओं के विषय में महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त की जा सकती है। इसी उद्देश्य से प्राचीन ग्रंथों का समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में जिन भारतीय विद्वानों ने

अध्ययन व विश्लेषण किया उनमें प्रो0 विनय कुमार सरकार, प्रो0 बृजेंद्रनाथ शील, डॉ0 भगवान दास तथा प्रो0 केवल मोटवानी के नामों की विशेष रूप से चर्चा की जाती है। प्रो0 बृजेंद्रनाथ शील की पुस्तक 'पॉजीटिव साइंस ऑफ द एंशिएंट हिदूज' (Positive Science of The Ancient Hindus) में पुरातन हिंदुत्व की निश्चयात्मक व्याख्या को सामाजिक–वैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया गया है। डॉ0 विनय कुमार सरकार की कृतियों जैसे–'द पॉजिटिव बैकग्राउंड ऑफ हिंदू सोशियोलॉजी (The Positive Background of Hindu Sociology), 'द फोक एलीमेंट इन हिंदू कल्चर' (The Folk Element in Hindu Culture), 'इंट्रोडक्शन टू द साइंस ऑफ एजुकेशन (Introduction to the Science of Education) तथा अन्य कृतियों में भी भारत में समाजशास्त्री परिप्रेक्ष्य में किए जाने वाले अध्ययनों के एक नवयुग के सूत्रपात के दर्शन होते हैं। डॉ0 भगवान दास ने अपनी प्रख्यात पुस्तक 'द साइंस ऑफ द ऑर्गनाइजेशन' (The Science of the Organization-1909) में मनु की समाज व्यवस्था या वर्ण–व्यवस्था की व्याख्या व विवेचना को इस प्रकार प्रस्तुत किया। जिसमें आधुनिक समय मे बिखरती हुई भारतीय सामाजिक व्यवस्था को फिर से संगठित किया जा सके। इसी प्रकार प्रो0 केवल मोटवानी ने अपनी पुस्तक 'इंडियाज एनशिएंट लिट्रेचरः इन इंट्रोडक्ट्री सर्वे' (Indias Ancient Litreture:An Introductory Survey) में प्राचीन परंपराओं के संदर्भ में हिंदुत्व की वैज्ञानिक व्याख्या को प्रस्तुत किया है।

भारतीय समाजशास्त्र के उद्भव एवं विकास में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह् करने वाले इन विद्वानों की कृतियों को भुला सा दिया गया था। परंतु जब वर्तमान में प्राचीन सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक विचारधारा के अध्ययन को पुनः स्वीकारा जा रहा है और समाजशास्त्र को आगे बढ़ाने में इनकी नितांत आवश्यकता को महसूस किया जा रहा है, तब समाजशास्त्री एक बार फिर इनके अध्ययन के प्रति सजग हो उठे हैं और ऐसे समय में सर्वश्री शील, सरकार दास मोटवानी आदि द्वारा किए गए प्रारंभिक प्रयास भारतीय समाजशास्त्र के विकास की आधारशिलाएं बन गई हैं। इन विद्वानों का योगदान समाजशास्त्र के क्षेत्र में अविस्मरणीय है।

सर्वप्रथम प्रो0 बृजेंद्रनाथ शील की प्रेरणा से ही कलकत्ता विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र विभाग के अंतर्गत ही समाजशास्त्र विभाग की स्थापना सन् 1917 में हुई। उस समय प्रो0 शील दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक थे, फिर भी उन्होंने समाजशास्त्री अध्ययन के क्षेत्र में अनुकरणीय रुचि दर्शायी तथा 'कंप्रेटिव स्टडी' (Comprative Study) पर एक विषद् व्याख्यान दिया और 'कंपेरिटिव स्टडी ऑफ क्रिश्चियन एंड वैष्णव ट्रेडिशन (Comparative Study of Christian and Viashnava Tradition) तथा 'ओरिजन ऑफ रेसेज (origion of Races) नामक पुस्तकों की रचना भी की।

डॉ0 ए0 आर0 वाडिया, डॉ0 राधाकमल मुकर्जी, विनय कुमार, डॉ0 डी0 एन0 मजूमदार, प्रो0 निर्मल कुमार जैसे जिन प्रतिभाशाली भारतीय समाजशास्त्रियों ने समाजशास्त्र के क्षेत्र में अपना अतुलनीय योगदान दिया है ये सभी प्रो0 बृजेंद्रनाथ शील के शिष्य थे।

सन् 11921 में पाश्चात्य समाजशास्त्री प्रो0 पैट्रिक गिड्डस (Patric Geddes) की देख–रेख व निर्देशन में समाजशास्त्र व नागरिकशास्त्र के संयुक्त तत्वावधान में एक विभाग खोला गया। प्रो0 गिड्डस का नगरीय समाजशास्त्र के विकास में महत्वपूर्ण योगदान है और यदि कहा जाए कि इन्होंने नगरीय समाजशास्त्र (Urban Sociology) के विकास में भारत में सर्वप्रथम प्रयास किया तो अतिश्योक्ति नहीं होगी। नगरीय योजना (Urban Town) में इनकी विशेष रुचि थी।

सन् 1924 में प्रो0 गोविंद सदाशिव घुरिये (Prof. G.S.Ghurye) ऐसे प्रख्यात व प्रतिष्ठित समाजशास्त्री थे जिन्होंने बंबई विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र विभाग की अध्यक्षता की। आपने 1952 में 'इंडियन सोशियोलॉजिकल सोसाइटी' (Indian Sociological Society), की स्थापना कर इस समिति के तत्वावधान में 'सोशियोलॉजिकल बुलेटिन' (Sociological Bulletin) का प्रकाशन किया और स्वयं इसका उत्तरदायित्व संभालते हुए संपादन कार्य भी किया। 1957 में इनके द्वारा लिखी गयी पुस्तक 'कास्ट एण्ड क्लास इन इण्डिया (Caste and Class in India) में भारतीय जाति एवं वर्ग–व्यवस्था के संदर्भ में अपने विचार प्रस्तुत किए। घुर्ये की रुचि सभ्यता के इतिहास में कई जगह देखने को मिलती है। जिसका केंद्र भारतीय सभ्यता है। इस सभ्यता ने ही भारतीय समाज का गठन किया है। आपके द्वारा भारतीय तथा पाश्चात्य देशों की पारिवारिक संस्था का तुलनात्मक अध्ययन अपनी पुस्तक 'फैमिली एण्ड किन इन इंडो यूरोपियन कल्चर' (Family and kin in Indo and European Culture-1955) में किया गया है। पुणे विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र की स्थापना मानवशास्त्र के साथ 1938 में हुई। जिसकी प्रथम अध्यक्ष इरावती कार्वे थे।

प्रो0 के0 एम0 कपाडिया (K.M.Kapadia), डॉ0 पी0 एन0 प्रभु (P. N. Prabhu), डॉ0 एम0 एन0 श्रीनिवास (M. N. Srinivas), डॉ0 ए0 आर देसाई (A.R.Desai) जैसे प्रख्यात समाजशास्त्रियों ने डॉ0 घुरिये से प्रत्यक्ष रूप में प्रभावित होकर ही समाजशास्त्र के विकास में अपना अमूल्य योगदान दिया। कपाड़िया द्वारा हिंदू नातेदारी (Hidu kinship) तथा भारतीय विवाह एवं परिवार के संबंध में दो पुस्तकों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया। जिनमें से 'हिंदू किनशिप' (Hindu Kinship) 1947 तथा मैरिज एण्ड फेमिली इन इंडिया (Marriage and Family in India) 1956 में लिखी गयी।

भारतीय समाजशास्त्रीय अध्ययन के क्षेत्र में डॉ0 वी0 एन0 प्रभु का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनके द्वारा लिखी गयी पुस्तक 'हिंदू सोशल ऑर्गनाइजेशन (Hindu Social Organization-1954 में वर्णित जाति प्रथा, वर्ण–व्यवस्था आदि विषयों का सविस्तार विश्लेषण लोगों की रूचि में शामिल है।

1921 में लखनऊ विश्वविद्यालय में डॉ0 राधाकमल मुखर्जी की अध्यक्षता में समाजशास्त्र का अध्ययन प्रारंभ हुआ लेकिन इसकी शुरूआत पृथक रूप न होकर अर्थशास्त्र के साथ हुई। 1956 में यह विषय अर्थशास्त्र से मुक्त होकर समाजसेवा विभाग से जुड़ गया और 1972 तक दोनों विषय एक ही विभाग के अंतर्गत कार्यरत रहे। लेकिन बाद में एक स्वतंत्र विषय के रूप में यह लखनऊ में भी स्थापित हो गया। मुखर्जी लखनऊ विश्वविद्यालय के प्रख्यात 'जे0 के0 इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल साइंस' (J.K.Institute of Social Science) के संस्थापक प्रोफेसर भी रहे। उन्हें लखनऊ विश्वविद्यालय ने उप–कुलपति भी नियुक्त किया था। तन, मन से सेवा कर मुखर्जी ने समाजशास्त्र को महत्वपूर्ण योगदान दिया। 'रीजनल सोशियोलॉजी' (Regional Sociology-1926), 'द सोशल स्ट्रक्चर ऑफ आर्ट' (The Social Sturucture of Art-1948) 'द सोशल स्ट्रक्चर ऑफ वैल्यूज (The Social Structure of Values (1949), 'द डायनमिक्स ऑफ मोरल्स' (The Dynamics of Morals-1951), 'द होरिजन ऑफ मैरिज' (The Horizon of Marriage-1956), 'द फिलॉसफी ऑफ सोशल साइंस' (The Philosophy of Social Science-1960) आदि अनेक पुस्तकें भारतीय समाजशास्त्र की अमूल्य निधि है। बोगार्ड्स ने लिखा है–''प्रो0 मुकर्जी के विचार भारत में समाजशास्त्र की उत्पत्ति के प्रमाण हैं। उनके विचार मानवीय पर्यावरण के अध्ययन व अवलोकन से लेकर धर्म व रहस्य तक हैं।'

डॉ0 राधाकमल मुखर्जी के पश्चात लखनऊ विश्वविद्यालय के प्रख्यात अर्थशाास्त्री डॉ0 डी0 पी0 मुखर्जी (D.P.Mukharjee) का भी समाजशास्त्र के क्षेत्र में विशेष योगदान रहा है। भारतीय समाज के विश्लेषण में मार्क्सवादी, परिप्रेक्ष्य का प्रयोग करते हुए द्वंद्ववाद के आधार पर भारतीय समाज में होने वाले परिवर्तन को समझाने का प्रयास किया तथा आंतरिक एवं बाह्य परंपरा के रूप में भारतीय परंपरा का इस्लामिक एवं पश्चिमी परंपरा के साथ द्वंद्व के के साथ–साथ भारतीय परंपरा के अंतर्गत उच्च एवं स्थानीय परंपरा के बीच क्रियाशील द्वंद्व की उदाहरण सहित विवेचना आपके द्वारा की गयी। आपकी प्रमुख कृतियों में 'पर्सनैलिटी एंड द सोशल साइंसेज' (Personality And Social Sciences-1924) 'मार्डन इंडियन कल्चर' (Modern Indian Culture-1948) डायवर्सिटी' (Diversity- 1958) प्रसिद्ध है। देहरादून में अपके द्वारा 1955 में प्रथम भारतीय समाज विज्ञान सम्मेलन के अध्यक्षीय भाषण समाजशास्त्र का एक मूल्य दस्तावेज हैं। इसके अतिरिक्त डी0 पी0 सबुज पात्रा, परिचय, स्वराज्य, नेशनल हैराज्ड समेत विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं के लिए भी नियमित रूप से लेख लिखा करते थे। आपने

नव स्वतंत्र भारत में समाज विज्ञान की जड़ों तक पहुंचने का प्रयोस किया। उनके इस महत्वपूर्ण योगदान को वे ही लोग समझ सकते हैं जिन्हें व्यक्तिगत रूप में मुखर्जी के संपर्क में आने का अवसर प्रदान हुआ। यह शिक्षक के रूप में अपने विद्यार्थियों को समाजशास्त्रीय घटनाओं के प्रति अधिक जागरुक बनाने तथा सामाजिक समस्याओं का आलोचनात्मक, विश्लेषणात्मक तथा निश्पक्ष अध्ययन व उन्हें समझने का प्रयास करने की प्रेरणा देकर वैज्ञानिकता तक पहुंचने के लिए प्रेरित किया। बोगार्ड्स ने मुखर्जी के विषय में लिखा है–'भारत में डी0 पी0 मुकर्जी ने व्यक्तित्व, प्रगति, समानता, सामाजिक व्यक्तियों व सामाजिक नियंत्रण आदि समाजशास्त्रीय अवधारणाओं पर बल दिया है। उनमें पश्चिमी समाजशास्त्र व पूर्वी भूमिका दोनों कहा ही ज्ञान है।'' प्रो0 उन्नीधान लिखते हैं– उनका विभिन्न क्षेत्रों, दर्शन, आर्थिक विचारों का इतिहास' समाजशास्त्रीय सिद्धांत, कला के सिद्धांत साहित्य व संगीत पर अनूठा अनुपम अधिकार है।'' अतः स्पष्ट है कि समाजशास्त्र के क्षेत्र में डी0 पी0 मुकर्जी की भूमिका महत्वपूर्ण रही है।

डॉ0 डी0 एन0 मजूमदार भी लखनऊ विश्वविद्यालय में मानवशास्त्र (Antropology) के अध्यक्ष थे और मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, बिहार व बंगाल के आदिवासियों पर गहन अध्ययन किया है। आपके द्वारा 1945 में 'एथनोग्राफिक एंड फोक कल्चर सोसाइटी इन यू0 पी0 (Ethnographic and folk Culture , Society in U.P) की स्थापना की थी और यही से 1945 में ही 'इस्टर्न एन्थ्रोपॉलोजिस्ट (Eastern Anthropologist) नामक पत्रिका का शुभारंभ भी हुआ। डॉ0 मजूमदार ने 'रेस एंड कल्चर ऑफ इंडियन कल्चर' (Race and Culture of Indian Culture), 'मैटरिक्स ऑफ इंडियन कल्चर' (Matrix of Indian Culture) जैसी अनेक पुस्तकें लिखकर समाजशास्त्र को आगे बढ़ाने में सहयोग दिया।

डॉ0 इरावती कार्वे ने अपनी महत्वपूर्ण कृति 'हिंदू किनशिप ऑर्गनाइजेशन' (Hindu Kinship Organization), प्रो0 श्रीनिवास ने संस्कृतिकरण (Sanskritization) के महत्वपूर्ण सिद्धांत के माध्यम से देश–विदेश में ख्याति प्राप्त की। मैरिज एंड फेमिली इन मैसूर (Marriage and Family in Mysore), इंडियन विलेज (Indian Village) 'सोशल चेंज इन मार्डन इंडिया' (Social Change in Modern India), 'कास्ट इन माडर्न इंडिया एंड अदर ऐसेज' (Caste in Modern India and Other Essay) जैसी कृतियों को प्रस्तुत कर समाजशास्त्र को आगे बढ़ाने में योगदान दिया। इसी प्रकार एस0 सी0 दुबे की पुस्तकें 'द कमार' (The Kamar 1954), 'एन इडियन विलेज–1955 (An Indian Village) तथा ''इंडियाज चेंजिंग विलेज' 1958 (Indias Changing Village) ने भारतीय ग्राम व्यवस्था के साथ–साथ परंपरा विकास परिवर्तन, आधुनिकीकरण को समझाने में अपना योगदान दिया।

डॉ0 ए0 आर0 देसाई ने विविध आयामों में लेखन कार्य कर राष्ट्रवाद, कृषक संघर्ष ग्रामीण परिवर्तन, कृषक आंदोलन, सत्ता और समाज, श्रम और मानवाधिकार को प्रस्तुत किया। इनकी प्रमुख कृतियां दो सोशल बैकग्राउंड इन इंडियन नेशनलिज्म (The Social Backgroung of Indian Nationalism-1948), 'रिसेट ट्रेंड्स इन इंडियन नेशनलिज्म' (Recent Trends in Indian Nationalism-1960) तथा रूरल ट्रांजिशन इन इंडिया' (Rural Transition in India-1961) हैं।

कहने का तात्पर्य है कि भारत में बीसवीं शताब्दी के आरंभ तक कोई भी ऐसे विज्ञान का विकास नहीं हो पाया था जिसमें मानव समाज के विभिन्न पहलुओं का वैज्ञानिक व व्यवस्थित रूप में अध्ययन किया जा सके। जबकि पाश्चात्य देशों में समाजशास्त्र का विकास भी हो चुका था और मानव समाज की समस्याओं को जानने–समझने में इस विज्ञान को उपयोगी भी पाया गया। ऐसे में भारतीय विद्वानों इसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। परिणामस्वरूप भारत में समाजशास्त्र की स्थापना की गयी। माना जाता है कि भारत में एक विषय के रूप में समाजशास्त्र का विकास राजनीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र की गोद में हुआ। अर्थात् पूर्व में समाजशास्त्र दूसरे विज्ञानों के साथ सम्मिलित था लेकिन धीरे–धीरे उसका अपना पृथक अस्तित्व बन गया। डी0 एन0 मजूमदार ने लिखा है–''समाजशास्त्र का क्षेत्र जैसा कि भारत में समझा जाता है, अर्थशास्त्र के संबंध में ही विस्तृत हुआ है। जो लोग उसके बारे में और भी कुछ कहते हों, उसकी लगभग अस्थिर रचना के लिए उत्तरदायी हैं। लगभग आधी शताब्दी तक संघर्ष करने के बाद समाजशास्त्र अपने को अर्थशास्त्र के आश्रय से स्वतंत्र करने में सफल हो सका।'

स्वतंत्रता के पश्चात भारत में समाजशास्त्र का विकास, द्रुतगति से हुआ। विभिन्न विश्वविद्यालयों में स्वतंत्र विषय के रूप में इसकी लोकप्रियता में वृद्धि होने लगी। इतना ही नहीं समाज के विभिन्न क्षेत्रों में समाजशास्त्र से सहायता प्राप्त की जा रही है। समाज में परिवार और विवाह जैसे महत्वपूर्ण सामाजिक विषयों से जुड़ी हुई समस्याओं के समाधान हेतु विभिन्न संस्थाओं को स्थापित किया गया। इतना ही नहीं मनोरोग और गंभीर अपराध जैसी समस्याओं को हल करने के लिए समाजशास्त्र ने महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह् किया है। आधुनिक भारत में स्वतंत्र विज्ञान के रूप में तीव्रता से विस्तारित होने के कारण यहां अनेक संस्थाएं निर्मित की गई हैं जिनमें टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल साइंसेज बंबई (1936), जे0 के0 इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल साइंसेज ऑफ सोशल वर्क लखनऊ (1948), इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल साइंसेज आगरा (1955), आई0 टी0 आई, दिल्ली (1950), आई0 टी0 आई, कानपुर (1840) प्रमुख हैं।

जिन भारतीय समाजशास्त्रियों ने भारत में समाजशास्त्र के संरक्षण संवर्द्धन एवं विकास में अपना अमूल्य योगदान दिया उनमें प्रो0 एम0 एन0 श्रीनिवास, प्रो0 ओयार्ड बी0 डामले, प्रो0 ए0 आर0 देसाई, प्रो0 विक्टर डिसूजा, प्रो0 एस0 सी0 दुबे, प्रो0 एम0 एस0 गोरे, प्रो0 टी0 एन0 मदान, प्रो0 रामकृष्ण मुकर्जी, प्रो0 पी0 एन0 मुकर्जी, प्रो0 टी0 के0 ओग्मेन, प्रो0 वी0 के0 राव0, प्रो0 सच्चिदानंद, प्रो0 योगेन्द्र सिंह, प्रो0 सरजीत सिन्हा, प्रो0 टी0 के0 एन0 यूनियान, प्रो0 कैलाश नाथ शर्मा, प्रो0 सत्येंद्र त्रिपाठी, प्रो0 घनाग्रे, प्रो0 आनन्द कुमार, श्रीमती सी पार्वाथम्मा, सूमा चिटनिस, नीरा देसाई, रोमिला थापर, रत्ना नायड तथा प्रमिला कपूर आदि अनेक नाम उल्लेखनीय हैं। जिनके संयुक्त सहयोग व सक्रिय योगदान से भारत में समाजशास्त्र एक उच्चतम सुप्रतिष्ठित स्थिति की ओर अग्रसर होते हुए इसको और अधिक विकसित व विस्तृत करने के लिए आने वाली पीढ़ी का संबल बनेगा।

2.3 सारांश

अब तक आप जान चुके होंगे कि विश्व के विभिन्न देशों में समाजशास्त्र का उद्‌भव एवं विकास किन चरणों से होकर गुजरा और एक नवीन विज्ञान के रूप में विकसित हुआ। यूं तो विकास का यह क्रम अत्यधिक प्राचीन है लेकिन इसे वैज्ञानिक, व्यवस्थित, विशिष्ट व स्वतंत्रत विज्ञान के रूप में गढने का श्रेय फ्रेच दार्शनिक अगस्त कोंट को जाता है। प्रारंभ में यह विषय यूरोप, फ्रांस, अमेरिका, जर्मनी अनेक पाश्चात्य देशों का मुख्य आकर्षण रहा लेकिन धीरे–धीरे इसकी जड़ें सर्वत्र फैलने लगी, क्योंकि पूर्व में अध्ययन की वैज्ञानिकता का अभाव था लेकिन 19वीं शताब्दी के पश्चात इसकी वैज्ञानिकता, तार्किकता के आधार पर सामाजिक अनुसंधान करने पर बल दिया गया। जिससे इसका महत्व और भी बढ़ जाता है

इसी प्रकार भारत में भी इसका उद्‌भव एवं विकास तीव्र गति से होने लगा। पैट्रिक गिडस की अध्यक्षता में 1919 में समाजशास्त्र की शुरुआत बंबई विश्वविद्यालय से की। इसके बाद जी0 एस0 घुरिये, राधाकमल मुकर्जी द्वारा इसको विस्तृत करने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह् किया गया। स्वतंत्रता के पश्चात इसका विकास तीव्र गति से होने लगा और विभिन्न विश्वविद्यालयों में न केवल इसकी लोकप्रियता बढ़ी बल्कि यह एक अलग विषय के रूप में लोगों की रुचि में शामिल होने लगा और समाज की विभिन्न सामाजिक समस्याओं को समझने तथा उनका निस्तारण करने के लिए यह वैज्ञानिक विधि के रूप में कार्य करने लगा। यही कारण है समाजशास्त्र आज एक महत्वपूर्ण विषय के रूप में दिन–प्रतिदिन विश्व एवं भारत में भी अधिकांश विश्वविद्यालयों तथा शोध संस्थानों में विकास की ओर अग्रसर हो रहा है।

2.4 पारिभाषिक शब्दावली

(1) सामाजिक प्राणी–से तात्पर्य है कि किसी व्यक्ति का समाज के बिना कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता।

(2)समाज–मैकाइवर और पेज के अनुसार–''समाज सामाजिक संबंधों का जाल है।'' सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक–दूसरे की सहायता ली और दी जाती है और इस प्रकार संबंधों की एक व्यवस्था निर्मित होती है।

(3) फ्रांसिसी क्रांति– फ्रांस के इतिहास की राजनैतिक एवं आमूल परिवर्तन की अवधि जिसका समय 1789–1799 तक रहा।

(4) औद्योगिक क्रांति–का तात्पर्य हाथों द्वारा बनाई गई वस्तुओं के स्थान पर मशीनों द्वारा व्यापक स्तर पर निर्माण की प्रक्रिया। इसका प्रारंभ 18वीं शताब्दी में इंग्लैंड में हुआ।

2.5 अभ्यास/बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न–01

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।

4. 'द रिपब्लिक' पुस्तक .....के द्वारा लिखी गई है।
5. पॉजीटिव फिलॉसफी की रचना अगस्त कोंट ने .....शताब्दी में की।
6. कोंट ने समाजशास्त्र को सामाजिक स्थितिशास्त्र व सामाजिक.....दो भागों में वर्गीकृत किया है।

उत्तर–

I. प्लेटो
II. 1838
III. गतिशास्त्र

बोध प्रश्न–02

एक शब्द में उत्तर दीजिए–

I. भारत में सर्वप्रथम यह विज्ञान 1917 में किस शहर में स्थापित हुआ?

.....

II. बम्बई में प्रो0 पैट्रिक गिड्स ने समाजशास्त्र के प्राध्यापक के रूप में अध्यापन कार्य किस वर्ष प्रारंभ किया?

.....

III. 'कास्ट क्लास एंड ऑक्यूपेशन' पुस्तक किसके द्वारा लिखी गई है?

.....

IV. 'रिजनल सोशियोलॉजी' के लेखक कौंन हैं?

.....

उत्तर

I. कलकत्ता
II. 1919
III. जी0एस0घुर्ये
IV. राधाकमल मुकर्जी

बोध प्रश्न–03

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए–

I. इण्डियन सोसोयोलॉजिक सोसाइटी की स्थापना घुर्ये ने .....वर्ष में की।
II. लखनऊ विश्वविद्यालय में .....समाजशास्त्र के प्रथम प्राध्यापक रहे।
III. भारतीय समाजशास्त्र की नींव सर्वप्रथम.....के द्वारा रखी गई।

उत्तर–

I. 1952
II. राधाकमल मुकर्जी
III. प्रो0 बृजेन्द्रनाथ शील

2.6 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. जे0 पी0 सिंह–समाजशास्त्र अवधारणाएं एवं सिद्धांत–प्रिंटिंग हॉल ऑफ इंडिया प्राइवेट लिमिटेड–2002
2. रवींद्र नाथ मुकर्जी–समाजशास्त्र–एस0 बी0 पी0 डी0 पब्लिकेशन–2018
3. डी0 डी0 एस0 बघेल–उच्चतर समाजशास्त्र–साहित्य भवन, आगरा–2006

4. रवीन्द्र नाथ मुकर्जी–सामाजिक विचारक– विवेक प्रकाशन, दिल्ली–1994
5. एम0 एम0 लवानिया–समाजशास्त्र–रिसर्च पब्लिकेशन, जयपुर–2002
6. जे0 पी0 सिंह–समाजशास्त्र के मूल तत्व–प्रिंटिंग हाल ऑफ इंडिया, दिल्ली–2002

2.7 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1– विद्याभूषण एवं सचदेवा–समाजशास्त्र–ए0बी0पी0डी0पब्लिकेशन्स, आगरा–2016

2– अमित अग्रवाल–समाजशास्त्र–जगदम्बा पब्लिशिंग कम्पनी, दिल्ली–2012

3– MASO 202–भारतीय समाजशासत्रीय विचार, समाजविज्ञान शाखा, उत्तराखंड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी–2018

2. 8 निबन्धात्मक प्रश्न

1. समाजशास्त्र की उत्पत्ति व विकास की चर्चा कीजिए।
2. समाजशास्त्र के उद्भव एवं विकास के विभिन्न क्रमों की संक्षिप्त में व्याख्या कीजिए।
3. भारत में ससमाजशास्त्र के उद्भव एवं विकास का वर्णन कीजिए।
4. स्वतंत्रता से पूर्व व प्श्चात भारत में समाजशास्त्र की विषय–यात्रा का वर्णन कीजिए।

इकाई-3 सामाजिक समूह: अर्थ, परिभाषा एवं विशेषताएं
(Social Group: Meaning, Definition and Characteristics)

इकाई की रुपरेखा

3.0 प्रस्तावना

3.1 उद्देश्य

3.2 सामाजिक समूह

3.3 सामाजिक समूह – अर्थ व विशेषताएं

3.4 सामाजिक समूह की सामान्य विशेषताएं

3.5 सारांश

3.6 पारिभाषिक शब्दावली

3.7 अभ्यासार्थ प्रश्न के उत्तर

3.8 संदर्भ ग्रंथ

3.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

3.10 निबंधात्मक प्रश्न

3.0 प्रस्तावना

मनुष्य की जन्म से लेकर मृत्यु तक अनेक आवश्यकता होती हैं। आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समूह में रहना आवश्यक है क्योंकि इनकी पूर्ति मनुष्य स्वयं नहीं कर सकता । इसी कारण मनुष्य अनेक समूहों का सदस्य है। उदाहरण के लिए ,हम सभी अपने परिवार -क्रीड़ा समूह, मित्र मंडली ,जाति तथा राष्ट्र के सदस्य हैं। इस संदर्भ एडवर्ड सोपियर का कथन है कि समूह का निर्माण इस तथ्य पर आधारित है कि कोई न कोई स्वार्थ उस समूह के सदस्यों को एक सूत्र से बांधे रहता है। विभिन्न प्रकार के समूह से ही समाज का निर्माण होता है। सीमित से अभिप्रायः किसी लक्ष्य की प्राप्ति हेतु बनाए गए ऐसे संगठन से है जिसके सदस्य सामूहिक रूप से पारस्परिक सहयोग द्वारा लक्ष्य प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। समुदाय ,समूह एवं सीमित की प्रकृति मूर्त होती है। संस्था नियमों की व्यवस्था अथवा व्यवहार से

संबंधित कार्य प्रणाली के कारण अमूर्त होती है। एक समाज में अनेक समुदाय पाए जाते हैं, समुदाय में अनेक समूह एवं समितियां पाई जाती हैं जो समाज द्वारा मान्य तरीकों जिन्हें हम संस्था कहते हैं द्वारा अपने लक्ष्य तक पहुंचने का प्रयास करती है अथवा जिनके सदस्यों का व्यवहार इन्हीं स्वीकृत तरीकों द्वारा नियंत्रित होता है।

3.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप

- सामाजिक समूह के अर्थ के बारे में जान सकेंगे ।
- सामाजिक समूह की विशेषताएं व सामाजिक समूह के प्रकार के बारे में ज्ञान अर्जित कर सकेंगे

3.2 सामाजिक समूह

हम सब समूहों में रहते हैं। परिवार ,पड़ोस, क्रीडा समूह इत्यादि समूह के ही उदाहरण हैं। इनका मानव व्यवहार को निर्धारित करने में महत्वपूर्ण स्थान होता है। समाजशास्त्र मानव के सामाजिक जीवन का अध्ययन है। सामाजिक जीवन की प्रमुख विशेषता यह है कि मनुष्य परस्पर अंतर्क्रिया करते हैं, संवाद करते हैं तथा सामाजिक सामूहिकता को निर्मित करते हैं। प्रत्येक समाज चाहे उसका स्वरूप कैसा भी क्यों ना हो मानवीय समूह और सामूहिकता विद्यमान रहती है। इन समूहों एवं सामूहिकता के प्रकार अलगअलग होते है-ं।

सामाजिक समूहों का समाजशास्त्रीय अध्ययन 20 शताब्दी में ही प्रारंभ हुआ। इससे पहले अधिकांश विद्वान समाज के उद्भव एवं विकास को समझने में ही लगे हुए थे। औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप सामाजिक समूहों के सदस्यों में पाए जाने वाले संबंधों में तीव्र गति से परिवर्तन हुए जिसे समझने के प्रयास किए जाने लगे। टॉनीज, दुर्खीम, मार्क्स इत्यादि विद्वानों ने इस ओर विशेष ध्यान दिया। अधिकांश समूहों की एक विशेष संरचना होती है। परिवर्तन की प्रक्रियाएं समूहों की संरचना को भी प्रभावित करती हैं। प्रस्तुत अध्याय में सामाजिक समूह की अवधारणा को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

3.3 सामाजिक समूहों का अर्थ एवं परिभाषायें-

सामान्य अर्थों में समूह का अर्थ व्यक्तियों के संग्रह या समुच्चय से लगा लिया जाता है। संग्रह या समुच्य केवल लोगों का जमावाड़ा होता है जो एक समय में एक ही स्थान पर होते हैं लेकिन एक दूसरे से कोई - निश्चित संबंध नहीं रखते। उदाहरणार्थ हम -खेल के मैदान, जेल से, बाजार, सिनेमाघर, रेलवे स्टेशन, हवाई अडडे, अथवा बस स्टॉप पर व्यक्तियों की भीड़ को देखते हैं लेकिन उन्हें समूह की संज्ञा नहीं दी जा

सकती। इसका कारण यह है कि उन व्यक्तियों में सामाजिक संबंधों व पारस्परिक चेतना का अभाव होता है। पारस्परिक चेतना व सामाजिक संबंध अन्योन्याश्रित हैं। चेतना के अभाव में परस्पर संबंध स्थापित नहीं होते। इन्हें अर्द्धसमूह तो कहा जा सकता है, परंतु सामाजिक समूह नहीं। अर्द्धसमूहों में संरचना अथवा संगठन की कमी होती है तथा सदस्य समूह के अस्तित्व के प्रति अनभिज्ञ होते है। सामाजिक वर्गों, परिस्थति समूह, समूह आयु एवं लिंग समूहों भीड इत्यादि को अर्द्धसमूह के उदाहरणों के रूप में देखा जा सकता है।

समूहों के निर्माण हेतु अंतर्क्रिया तथा संचार का होना आवश्यक है। उदाहरण के लिए बाजार में सामान्य - ष्टिकोणदृसे व्यक्तियों के संग्रह को समूह नहीं कहा जा सकता है। किंतु यदि किसी कारण से चाहे पॉकेट मार के पकडने से या अन्य किसी कारण से ये संग्रहित लोग आपस में अंतर्क्रिया करते है। तो उनमें सामाजिक संबंधों का जन्म होता है। तब उस समय संग्रह समूह में परिवर्तित हो जाएगा चाहे उसकी प्रकृति स्थायी ही क्यों न हो। इसी भांति, महिला आंदोलन ने महिलाओं को एक सामूहिक निकाय के रूप में संगठित कर इन्हें सामाजिक समूह के रूप में परिवर्तित किया है। इन आंदोलनों ने महिलाओं को अपनी पहचान एक सामूहिकता और समूह के रूप में विकसित करने में सहायता दी है। एक सामाजिक वर्ग जाति अथवा समुदाय से संबंधित व्यक्ति एक सामूहिक निकाय के रूप में संगठित होकर जब दीर्घकालीन अंतर्क्रियाएं करने लगते है तथा उनमें अपनत्व की भावना विकसित होने लगती है, तो वह समूह का रूप धारण कर लेते हैं।

इसी भांति आयु के आधार पर निर्मित समूह को सामाजिक समूह नहीं कहा जाता है। यह भी अर्द्धसमूह का उदाहरण है। कई बार ऐसा भी होता है कि किसी की मांग को लेकर किशोर आयु समूह संगठित हो जाए। यदि शिक्षा संस्थाओं में किसी मांग को लेकर अथवा समाज में किसी महत्वपूर्ण भूमिका को लेकर इस प्रकार का समूह अपने सदस्यों में आपसी पहचान एवं अपनत्व की भावना का विकास कर लेता है, सदस्यों में दीर्घ एवं स्थायी अंतर्क्रिया प्रारंभ हो जाती है तथा उनमें अंतर्क्रिया के प्रतिमान स्थिर होने लगते हैं तो आयु के आधार पर बना किशोर समूह एक सामाजिक समूह का रूप धारण कर लेता है।

एक सामाजिक समूह में कम से कम निम्न लक्षण होने अनिवार्य हैं-

1. निरंतरता के लिए दीर्घ एवं स्थायी अंतर्क्रिया ,
2. इन अंतर्क्रियाओं का स्थिर प्रतिमान,
3. समूह एवं उसके नियमों , अनुष्ठानों एवं प्रतीकों के प्रति जागरूकता,

4. सामान्य रूचि,

5. सामान्य आदर्शों एवं मूल्यों को अपनाना ,तथा

6. एक निश्चित संगठन या संरचना का होना।

बोटोमोर के अनुसार, सामाजिक समूह व्यक्तियों के उस योग को कहते हैं जिसमें विभिन्न व्यक्तियों के बीच निश्चित संबंध होते हैं और प्रत्येक व्यक्ति समूह के प्रति और इसके प्रतीकों के प्रति सचेत होता है। दूसरे शब्दों में, एक सामाजिक समूह का कम से कम अल्पविकसित आधार होता है। मैकाइवर एवं पेज के अनुसार ,समूह से हमारा तात्पर्य ऐसे व्यक्तियों के संग्रह से है जो एक-दूसरे के साथ सामाजिक संबंध स्थापित करते हैं।

बोगार्डस के अनुसार सामाजिक समूह का अर्थ हम दो या अधिक व्यक्तियों के ऐसे संग्रह से लगा सकते हैं जिनके ध्यान के कुछ सामान्य लक्ष्य होते हैं जो एक दूसरे को प्रेरणा देते हैं, जिनमें सामान्य वफादारी पाई जाती है और सामान्य क्रियाओं में भाग लेते हैं।

ऑगबर्न एवं निमकॉफ के अनुसार जब कभी दो या दो से अधिक व्यक्ति एकत्र होकर एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। तो वे सामाजिक समूह का निर्माण करते हैं। इस भांति, गिलिन के अनुसार सामाजिक समूह के विकास हेतु एक ऐसी अनिवार्य स्थिति होती है जिसमें संबंधित व्यक्तियों में अर्थपूर्ण अंतः उत्तेजना और अर्थपूर्ण प्रत्युत्तर संभव हो सके एवं जिसमें उन सबका सामान्य उत्तेजकों अथवा हितों पर ध्यान टिका रहे और सामान्य चालकों एवं प्रेरकों व संवेगों का विकास हो सके।

एंथोनी गिडेंस ने सामाजिक समूह की परिभाषा इस भांति की है सामाजिक समूह केवल :व्यक्तियों का एक योग है जो नियमित रूप से एक दूसरे के साथ अंतर्क्रिया करते हैं। इस तरह की नियमित अंतर्क्रियाएं समूह के सदस्यों को एक निश्चित इकाई का रूप देती है। इन सदस्यों की पूर्ण रूप से सामाजिक पहचान अपने समूह से ही होती है। आकार की दृष्टि से समूह में विभिन्नता होती है। समूह का आकार बहुत निकट संबंधों जैसे परिवार से लेकर विशाल समष्टि जैसे रोटेरी क्लब तक होता है।

बोगार्डस कहते हैं :'एक सामाजिक समूह में कई व्यक्ति होते हैं दो या अधिक। इन -व्यक्तियों का ध्यान कुछ सामान्य लक्ष्यों की ओर होता है। ये लक्ष्य एक दूसरे को प्रेरित करते हैं। इन सदस्यों में एक सामान्य निष्ठा होती है और ये सदस्य एक जैसी गतिविधियों में अपनी भागीदारी करते हैं।'

बोगार्डस ने समूहों के कई प्रकार बताए हैं। इन प्रकारों का आधार समूह द्वारा की जाने वाली गतिविधियां हैं। समूहों की लंबी तालिका में वे परिवार, समुदाय, व्यवसाय, शिक्षा, राष्ट्र आदि को सम्मिलित करते हैं।

बोगार्डस कहते हैं कि समूह कभी भी स्थिर नही होता, उसमें गतिशीलता होती है और इससे आगे इसकी गतिविधियों में परिवर्तन आता है और इसका स्वरूप भी बदलता रहता है। कभीकभी- लगता है कि जैसे समूह स्थिर हो गया है, चलते हुए उसके पांव थम गए से लगते हैं और कभीकभी ऐसा भी लगता है जैसे - समूह सरपट गति से दौड़ता जा रहा है। यह सब भ्रम जाल है। वास्तविकता यह है कि समूह किसी तालाब के पानी की तरह बंधा हुआ नहीं रहता। उसमें गतिशीलता बराबर रहती है। कभी यह गतिशीलता बहुत धीमी होती है, कभी मध्यम और कभीकभार बहुत तेज।-

आगबर्न और निमकॉफ पुरानी पीढ़ी के पाठ्यपुस्तक लेखक हैं। उन्होंने समूह की परिभाषा बहुत ही सामान्य रूप में रखी है :

जब कभी दो या अधिक व्यक्ति एकत्र होते हैं और एक दूसरे को प्रभावित करते हैं तो वे एक सामाजिक समूह का निर्माण करते हैं।

रोबर्ट मर्टन ने सामाजिक समूह की अवधारणा को संशोधित रूप में रखा है। वे बोगार्डस द्वारा की गई समूह की परिभाषा से एकदम असहमत हैं। उनका तर्क है कि सामाजिक समूह की किसी भी परिभाषा में अनिवार्य तत्व अंतर्क्रिया है। समूह के सदस्य कितने ही क्यों न हों जब तक उनमें अंतर्क्रिया नहीं होती, वे समूह नहीं बनते। बोगार्डस प्रजाति को एक समूह मानते हैं। कॉकेशियन प्रजाति की जनसंख्या असीमित है और रुचिकर बात यह है कि इस नस्ल के लोग न तो एक दूसरे को जानते हैं और न उनमें कोई नियमित अंतर्क्रिया है। ऐसी अवस्था में मर्टन प्रजाति या इसी तरह राष्ट्र को एक समूह नहीं मानते। वास्तव में मर्टन ने सामाजिक समूह की परिभाषा अपने संदर्भ समूह सिद्धांत की पृष्ठभूमि में दी है। उनका कहना है कि समूह एकत्रीकरण नहीं है। प्रजाति और राष्ट्र तो व्यक्तियों का एकत्रीकरण है। इन व्यक्तियों में पारस्परिक अंतर्क्रियाएं नहीं होतीं। अतः सामाजिक समूह मर्टन के अनुसार एकत्रीकरण तो है लेकिन इसके अतिरिक्त सदस्यों में अंतर्क्रिया होती है "हम एक ही समूह के सदस्य हैं" हम सुदृढ़ता की भावना भी रखते हैं, आदि भी इसकी आवश्यकताएं हैं। इन सदस्यों में मानदंड और मूल्य भी एक समान होते हैं।

सामाजिक समूह की विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि सामाजिक समूह हेतू दो या दो से अधिक व्यक्तियों में अंतर्क्रिया एवं सामाजिक संबंधों को होना अनिवार्य है। प्रस्तुतः के चार तत्व होते है प्रथम दो या दो से अधिक -का संग्रह द्वितीय, उनमें प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष संबंधों एवं अंतर्क्रियाओं का होना ,तृतीय उनकी अंतर्क्रियाओं का आधार सामान्य हित या उद्देश्य का होना तथा चतुर्थ एक निश्चित संरचना या संगठन का होना उपर्युक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक समूह केवल व्यक्तियों का संग्रह मात्र ही नहीं है। इन व्यक्तियों के मध्य पारस्परिक संबंधों का होना अति आवश्यक

है। अतः कहा जा सकता है कि जिस समय दो या दो से अधिक व्यक्ति कतिपय सामान्य उद्देश्यों अथवा लाभों की पूर्ति हेतु परस्पर संबंधों की स्थापना करते हैं और अपने व्यवहार द्वारा एक दूसरे को प्रभावित करते हैं तो उसे सामाजिक समूह की संज्ञा दी सकती है ।

3.4 सामाजिक समूह की सामान्य विशेषताएँ –

सामाजिक समूह की सामान्य विषेषताएं निम्नलिखित हैं-

1. **समूह व्यक्तियों का संग्रह है -** समूह के लिए व्यक्तियों का होना आवश्यक है। यह आवश्यक नहीं है कि समूह के सदस्यों में शारीरिक निकटता ही हो, परंतु उनके मध्य अंतर्क्रिया का होना आवश्यक है। इस अंतर्क्रिया में सामाजिक संबंधों का जन्म होता है।

2. **समूहों को अपनी सामाजिक संरचना होती है**प्रत्येक समूह की एक सामाजिक संरचना होती है। - फीचर के अनुसार प्रत्येक समूह की अपनी सामाजिक संरचना होती है। उस संरचना मेंव्यक्तियों की परिस्थिति निर्धारित होती है। प्रत्येक समूह में आयु, लिंग, जाति, व्यवसाय आदि के आधार पर सामाजिक स्तरीकरण पाया जाता है। प्रत्येक सदस्य को समूह में अपनी परिस्थिति संबंधित भूमिका निभानी पड़ती है।

3. **समूह में कार्यात्मक विभाजन होता है**समूह में संगठन बना -ए रखने के लिए प्रत्येक सदस्य विविध कार्य करता है उदाहरण के लिए -शिक्षण संस्था में प्रत्येक शिक्षक अलग अलग विषय को पढ़ाते हैं तथा ज्ञान देने के लक्ष्य को पूरा करते हैं। प्रधानाचार्य की अपनी अलग भूमिका होती है। और लिपिक वर्ग के सदस्य उनके लिए निर्धारिक कार्यों को निस्पादित करते हैं।

4. **समूह में सामान्य स्वार्थों की भावना होती है** मनुष्य समूह का सदस्य इसलिए बनता -है कि उसके माध्यम से उसके स्वार्थों की पूर्ति होती है। अतएव उनकी भावनाएं भी एक सी होती है। यदि सदस्यों के स्वार्थ या हित असमान होंगे तो ऐसी दशा में संबंधों में दृढ़ता रहेगी और समूह में संगठन ही होगा।

5. **समूह की सदस्यता ऐच्छिक होती है** परिवार जैसे समूह को छ -ोड़कर अन्य सभी समूहों की सदस्यता ऐच्छिक होती है। यह व्यक्ति की व्यक्तिगत रूचि तथा लक्ष्यों की प्रकृति पर निर्भर करता है कि वह किस समूह का सदस्य बनेगा। अतः मनुष्य अपने जीवन काल में अनेक समूहों के संपर्क में आता है।

6. **समूह की अपनी सत्ता होती है**समूह का आधार सा -मूहिक व्यवहार के अभाव में समूह का अस्तित्व संभव नहीं है व्यक्ति समूह के समक्ष अपने अस्तित्व को बहुत गौण मानता है। समूह पर उसे पूरा विश्वास तथा श्रद्धा होती है। अतः वह समूह के नियम तोड़ने से डरता है। यह भावना समूह के अस्तित्व की रक्षा करती है। इसके साथ ही साथ इससे समूह की स्थायित्व तथा संगठन प्राप्त होता है।

7. **सामाजिक मानदंड समूह में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं-** समूह अपने अस्तित्व के लिए कुछ मानदंडों के आदर्श नियमों का स्थापना करता है। इनके द्वारा वह अपने सदस्यों के व्यवहार को नियंत्रित करता है। इन्हीं मानदंडों के कारण सदस्यों के व्यवहार में एकरूपता रहती है। यह आवश्यक नहीं है कि सभी समूहों के सामान्य मानदंड हों तथा वे सभी सदस्यों पर समान रूप से लागू हों।

8. **समूह एक मूर्त संगठन है -** सामाजिक समूह समान उद्देश्यों व लक्ष्यों वाले व्यक्तियों का संकलन है। क्योंकि यह व्यक्तियों का संकलन है अतएव यह मूर्त होता है।

बोध प्रश्न -1

निम्नलिखित में आप किसे सामाजिक समूह कहेंगे

(i) विवाह (iii) समाज सेवी संगठन

(ii) जन्मदिन का समारोह (iv) भीड़

3.5 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात यह स्पष्ट होता है कि जब व्यक्ति एक दूसरे से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष संबंधों के आधार पर स्वयं को एक पृथक इकाई के रूप में अनुभव करते हैं तथा एकदूसरे को सहयोग - देना अपने दायित्व के रूप में देखने लगते हैं तबव्यक्तियों की इसी समग्रता को एक सामाजिक समूह कहा जाता है

3.6 पारिभाषिक शब्दावली

सामाजिक समूह– जब कभी दो या दो से अधिक व्यक्ति एकत्र होकर एकदूसरे को प्रभावित करते हैं - तो वे एक सामाजिक समूह का निर्माण करते हैं

3.7 अभ्यासार्थ प्रश्न के उत्तर

बोध प्रश्न 1

i) समाज सेवी संगठन

3.8 संदर्भ ग्रंथ

Davis,Kingsley, Human Society, New York:MacMillan Company, 1949.

अग्रवाल ,जी ,. के.एस बी पी डी पब्लिकेशंस, आगरा 2009

Bottomore, T.B., Sociology: A Guide to Problem & Literature, London:Allen & Unwin,1969.

3.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

Bogardus, E.S., Introducation to Sociology: Los Angeles: University of Southern California Press, 1917.

Bottomore, T.B., Sociology: A Guide to Problem & Literature, London:Allen & Unwin,1969.

अग्रवाल ,जी ,. के.एस बी पी डी पब्लिकेशंस, आगरा 2009

3.10 निबंधात्मक प्रश्न

1.सामाजिक समूह किसे कहते है? इसकी प्रमुख विशेषताएं कौन सी हैं ?

इकाई-4 सामाजिक समूह : प्राथमिक एवं द्वितीयक
(Social Groups: Primary and Secondary)

इकाई की रूपरेखा

4.0 प्रस्तावना

4.1 उद्देश्य

4.2 सामाजिक समूह अर्थ :एवं परिभाषा

4.3 सामाजिक समूह की विशेषताएं

4.4 सामाजिक समूह का वर्गीकरण

4.5 प्राथमिक एवं द्वितीयक समूह

4.6 प्राथमिक एवं द्वितीयक समूह की तुलना

4.7 सारांश

4.8 बोध प्रश्न

4.9 संदर्भ ग्रंथ

4.0 प्रस्तावना

मनुष्य जन्म के समय सिर्फ एक जैविक सावयव होता है । परंतु जब वह धीरेधीरे समाज में - अपना समाजीकरण करता है तो सामाजिक समूह में उसका समाजीकरण होता है।यही समाजीकरण उसको पशु से मनुष्य बनाता है। मानव का सामाजिक जीवन हर जगह छोटे अथवा बड़े समूहों में बंटा होता है। अगर यह समूह न होते तो शायद हम पशु एवं मनुष्य में भेद न कर पाते। सामाजिक समूह से व्यक्तियों को एक अलग पहचान मिलती है। समूह शब्द का प्रयोग विभिन्न प्रकार से किया जाता है। कुछ लोग एक साथ मिलकर क्रिकेट का मैच देख रहे हैं तो वह भी समूह है और कुछ लोग एक साथ सड़क

पार कर रहे हैं तो वह भी समूह कहा जाता है। लेकिन समाजशास्त्र में समूह का अर्थ अलग है। जैसा आप जानते हैं कि समाजशास्त्र का मूल संबंध मानव के सामाजिक व्यवहार से है, इसलिए यह जानना आवश्यक है कि लोग एक दूसरे से किस प्रकार का व्यवहार करते हैं । व्यक्ति का जो पारस्परिक व्यवहार समूह में ही संभव होता है। इसलिए सामाजिक समूह का अध्ययन किया जाना समाजशास्त्र के लिए आवश्यक है।

4.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप ज्ञात कर सकेंगे -

- सामाजिक समूह की अवधारणा
- सामाजिक समूह की प्रमुख विशेषताएं
- सामाजिक समूह के विभिन्न प्रकार
- सामाजिक समूह के महत्व का ज्ञान
- सामाजिक समूह का वर्गीकरण
- प्राथमिक एवं द्वितीयक समूह
- प्राथमिक एवं द्वितीयक समूह की तुलना

4.2 सामाजिक समूह: अर्थ एवं परिभाषा

जब कुछ व्यक्ति किसी विशेष आधार पर अपने ही समान कुछ दूसरे व्यक्तियों के संपर्क में आते हैं अथवा उनके प्रति जागरूक होते हैं, तब व्यक्तियों के इस स्थायी अथवा अस्थायी संगठन को हम सामाजिक समूह कहते हैं। सामाजिक समूह न तो अनेक व्यक्तियों का समुच्चय है और न ही यह एक सामाजिक कोटि है। विभिन्न विद्वानों ने समूह को परिभाषित किया है। सभी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि समूह में सम्मिलित लोगों में पारस्परिक संपर्क होता है और यह संपर्क हमेशा बना रहता है, एक दो दिन का नहीं। वास्तविकता यह है कि समूह के सदस्यों की अंतर्क्रियाएं नियमित रूप से होती रहती हैं। नियमित रूप से होने वाली अंतर्क्रिया ही व्यक्तियों को समूह का सदस्य बनाती है।

एंथोनी गिडेंस ने सामाजिक समूह की परिभाषा इस भांति की है सामाजिक समूह केवल :व्यक्तियों का एक योग है जो नियमित रूप से एक दूसरे के साथ अंतर्क्रिया करते हैं। इस तरह की नियमित अंतर्क्रियाएं समूह के सदस्यों को एक निश्चित इकाई का रूप देती है। इन सदस्यों की पूर्ण रूप से सामाजिक पहचान अपने समूह से ही होती है। आकार की दृष्टि से समूह में विभिन्नता होती है। समूह का आकार बहुत निकट संबंधों जैसे परिवार से लेकर विशाल समष्टि जैसे रोटेरी क्लब तक होता है।

बोगार्डस ने पांचवें दशक के प्रारंभ में समाजशास्त्र की एक पाठ्य पुस्तक लिखी थी। इसमें समूह की व्याख्या वृहत् रूप में की है। उन्होंने समूह का संबंध संस्कृति, परिवार, समुदाय, व्यवसाय, खेलकूद-, शिक्षा, धर्म, प्रजाति और संसार तक के साथ जोड़ा है। उनके अनुसार, ये सब समाज के अंग अपने आप में समूह हैं। उनकी दृष्टि से विभिन्न प्रजातियां, इसी भांति धार्मिक समूह और यहां तक कि रेडियो और टी सुनने वाले लोग भी समूह हैं। प्रारंभिक अर्थ में समूह-देखने .वी.व्यक्तियों की एक इकाई है जिनमें पारस्परिक संबंध होते हैं। उदाहरण के लिए, किसी जंगल में वृक्षों का जो झुरमुट है, वह समूह है, इसी तरह गली के नुक्कड़ पर बसे हुए मकान समूह हैं या हवाई अड्डे पर खड़े हुए हवाई जहाज समूह बना देते हैं। ये सब समूह बेजान हैं, एक प्रकार के समुच्चय हैं। समूह सामाजिक समूह तब बनते हैं जब उनमें अंतर्किया प्रारंभ होती है। समूह की मूल आवश्यकता अंतर्क्रिया है।

बोगार्डस कहते हैं :'एक सामाजिक समूह में कई व्यक्ति होते हैं दो या अधिक। इन -व्यक्तियों का ध्यान कुछ सामान्य लक्ष्यों की ओर होता है। ये लक्ष्य एक दूसरे को प्रेरित करते हैं। इन सदस्यों में एक सामान्य निष्ठा होती है और ये सदस्य एक जैसी गतिविधियों में अपनी भागीदारी करते हैं।'

बोगार्डस ने समूहों के कई प्रकार बताए हैं। इन प्रकारों का आधार समूह द्वारा की जाने वाली गतिविधियां हैं। समूहों की लंबी तालिका में वे परिवार, समुदाय, व्यवसाय, शिक्षा, राष्ट्र आदि को सम्मिलित करते हैं। बोगार्डस कहते हैं कि समूह कभी भी स्थिर नहीं होता, उसमें गतिशीलता होती है और इससे आगे इसकी गतिविधियों में परिवर्तन आता है और इसका स्वरूप भी बदलता रहता है।

ऑगबर्न और निमकॉफ ने समूह की परिभाषा बहुत ही सामान्य रूप में रखी हैजब कभी दो या : अधिकव्यक्ति एकत्र होते हैं और एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं तो वे एक सामाजिक समूह का निर्माण करते हैं।

रोबर्ट मर्टन ने सामाजिक समूह की अवधारणा को संशोधित रूप में रखा है। वे बोगार्डस द्वारा की गई समूह की परिभाषा से एकदम असहमत हैं। उनका तर्क है कि सामाजिक समूह की किसी भी परिभाषा में अनिवार्य तत्व अंतर्क्रिया है। समूह के सदस्य कितने ही क्यों न हों जब तक उनमें अंतर्क्रिया नहीं होती, वे समूह नहीं बनते। बोगार्डस प्रजाति को एक समूह मानते हैं। कॉकेशियन प्रजाति की जनसंख्या असीमित है और रुचिकर बात यह है कि इस नस्ल के लोग न तो एक दूसरे को जानते हैं और न उनमें कोई नियमित अंतर्क्रिया है। ऐसी अवस्था में मर्टन प्रजाति या इसी तरह राष्ट्र को एक समूह नहीं मानते। वास्तव में मर्टन ने सामाजिक समूह की परिभाषा अपने संदर्भ समूह सिद्धांत की पृष्ठभूमि में दी है। उनका कहना है कि समूह एकत्रीकरण नहीं है। प्रजाति और राष्ट्र तो व्यक्तियों का एकत्रीकरण है। इन व्यक्तियों में पारस्परिक अंतर्क्रियाएं नहीं होतीं। अतः सामाजिक समूह मर्टन के अनुसार एकत्रीकरण तो है लेकिन इसके

अतिरिक्त सदस्यों में अंतर्क्रिया होती है 'हम एक ही समूह के सदस्य हैं' हम सुदृढ़ता की भावना भी रखते हैं, आदि भी इसकी आवश्यकताएं हैं। इन सदस्यों में मानदंड और मूल्य भी एक समान होते हैं।

मर्टन ने समूह की जो नई संशोधित व्याख्या की है, उसके अनुसार)1) समूह में दो या अधिक सदस्य होते हैं , (2) समूह में अंतर्क्रियाओं का होना आवश्यक है और ये अंतर्क्रियाएं निरंतर चलती रहती हैं, (3) समूह की एक और अनिवार्यता समूह के सदस्यों के बीच में हम की भावना पर्याप्त रूप में पाई जाती है। हम की भावना के दो पहलू हैं। पहला तो यह कि व्यक्ति अपनी पहचान उस समूह से करता है जिसका वह सदस्य है और दूसरा समूह के लोग अपने सदस्यों को अपना समझते हैं। अन्य शब्दों में व्यक्ति की पहचान समूह से है और समूह की पहचान व्यक्ति से।

4.3 सामाजिक समूह की विशेषताएं

ऊपर हमने सामाजिक समूह के अर्थ एवं परिभाषा को प्रस्तुत किया है। इकाई के इस भाग में हम सामाजिक समूह की कुछ विशेषताओं का उल्लेख करेंगे, जिससे सामाजिक समूह की अवधारणा और अधिक स्पष्ट हो सके:

1. **एक से अधिक सदस्य या सदस्यों की बहुलता :** कोई भी एक व्यक्ति चाहे वह कितना ही महान क्यों न हो, समूह नहीं बनाता। समूह के लिए कम से कम दो व्यक्ति होने चाहिए। अधिकतम सदस्यों की संख्या वहां तक सीमित है जहां तक सदस्यों के बीच में किसी न किसी तरह की अंतर्क्रिया संभव हो।

2. **संपर्क और अंतर्क्रिया**: हमने कहा है कि समुच्चय यानी एकाधिक व्यक्तियों का जमावड़ा समूह नहीं बनता। समूह के लिए आवश्यक है कि व्यक्तियों में पारस्परिक संपर्क हो और उनके बीच में अंतर्क्रियाएं हों। मर्टन अंतर्क्रियाओं पर सबसे अधिक जोर देते हैं। निश्चित रूप से अंतर्क्रियाएं समूह की प्राणवायु हैं।

3. **पारस्परिकता की चेतना**समूहों के सदस्यों में यह चेतना होनी चाहिए कि उनके समूह के अन्य : ब-सदस्य उनके ही भाईंधु हैं। हम सब एक ही आंगन की उपज हैं, यह चेतना समूह के लिए आवश्यक है। समूह के प्रति इस चेतना को कार्ल मार्क्स ने अधिक ताकत के साथ रखा है। मजदूर संघ का सदस्य यह जानता है कि अंततोगत्वा वो मजदूर है और उसकी पहचान एक मजदूर की ही पहचान है। मार्क्स इसके लिए वर्ग चेतना की अवधारणा को काम में लाते हैं।

4. **अंतर्क्रिया करने वाले लोगों में अपने को एक इकाई समझने की भावना**समूह का सदस्य : अपनी अस्मिता को समूह के साथ जोड़ता है। वह यह समझता है कि समूह से पृथक् उसकी न कोई

पहचान है और न कोई अस्तित्व। साधारण शब्दों में, व्यक्ति की पहचान उसके समूह से है जिसका वह सदस्य है और दूसरी ओर समूह की पहचान उसके सदस्यों से है। दोनों का अस्तित्व पारस्परिक पहचान पर निर्भर है।

5. **समान लक्ष्य:** कोई भी व्यक्ति किसी भी समूह का सदस्य समान लक्ष्यों के कारण बनता है। कभी बन जाते हैं। परिवार का कभी ऐसा भी होता है जब समूह के लक्ष्य अपने आप सदस्य के लक्ष्य-सदस्य या तो जन्म से बनता है या विवाह से। ऐसी अवस्था में जन्म के बाद या विवाह के उपरांत सदस्य के लक्ष्य समूह के साथ जुड जाते हैं। जब तक सदस्य का समूह के लक्ष्यों के साथ में तालमेल नहीं बैठता, व्यक्ति की सदस्यता अप्रासंगिक बन जाती है।

6. **समान मानदंड:** वस्तुतः लक्ष्य साध्य होते हैं और मानदंड साधन। साध्य और साधन समूह के अनिवार्य तत्व हैं। ऐसी स्थिति में जब व्यक्ति साध्यों यानी लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए समूह का सदस्य बनता है तो परिणामस्वरूप उसके साधन यानी मानदंड भी एक जैसे होते हैं। यदि परिवार उच्च व तकनीकी शिक्षा को अपने सदस्यों की समृद्धि के लिए स्वीकार करता है तो निश्चित रूप से सदस्य भी ऐसी शिक्षा प्राप्त करने के मानदंडों को स्वीकार करेंगे।

7. **समान मूल्य :**मानदंड का ऊंचा स्तर मूल्य होते हैं। इस दृष्टि से जब प्रत्येक समूह के मानदंड होते हैं, तब उसके कुछ मूल्य भी होते हैं। समूह के सदस्यों का यह प्रयास होता है कि वे अपने निर्धारित मूल्यों को प्राप्त कर सकें।

समूह की परिभाषा, उसके अर्थ और लक्षणों की व्याख्या अधूरी होगी, अगर हम यह याद न दिलाएं कि आज के औद्योगिक और पूंजीवादी समाज में समूह का एक वृहत् स्वरूप भी हमारे सामने है और यह स्वरूप औपचारिक और विशाल संगठनों का है। आधुनिक और उत्तर आधुनिक समाजों में, जिनमें यूरोप व अमेरिका जैसे देश सम्मिलित हैं, लघु समूहों का युग गुजर गया है। इन देशों में तो परिवार जैसे प्राथमिक समूहों की श्वास भी फूल रही है। यहां मनुष्य का लगभग संपूर्ण जीवन वृहत् संगठनों में गुजर जाता है। यह तो एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका जैसे देश हैं, जिनमें व्यक्ति का सरोकार सामान्य और छोटे समूहों से होता है। ऐसी स्थिति में समूह के जो लक्षण हमने ऊपर रखे हैं, उन्हें वृहत् संगठनों के रूप में भी देखना चाहिए। निश्चित रूप से बोगार्डस के समय की यानी आज से पांच दशक पहले की समूह की अवधारणा बहुत कुछ अप्रासंगिक बन गई है।

4.4 सामाजिक समूह का वर्गीकरण

जिन समूहों के हम सदस्य हैं, वे सभी समान महत्व के नहीं हैं। कुछ समूह हमारे साथ जन्म से ही जुड़े हैं। परिवार, जाति, प्रजाति आदि ऐसे समूह हैं जिनके सदस्य हम जन्म के पश्चात् ही बन जाते हैं। दूसरे प्रकार के समूह वे हैं जिनके सदस्य हम, अपनी पसंदगी से हैं, लेकिन जिनके बिना भी हमारा काम चल नहीं सकता। चिकित्सालय, विश्वविद्यालय या महाविद्यालय, व्यावसायिक संगठन, सार्वजनिक प्रतिष्ठान और ऐसे ही अनेकों संगठन हैं जिनका योगदान हमारे जीवन में बहुत महत्वपूर्ण है। यह भी एक रुचिकर बात है कि कुछ समूह जो विकासशील समाजों के कुछ ऐसे समूह हैं जिनके बिना उन समाजों का काम नहीं चल सकता, जबकि ये समूह विकासशील समाज के लिए अप्रासंगिक हो जाते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि समूह का महत्व और उसका वर्गीकरण समाज से जुड़ा हुआ है। अपने आप में समूह का वर्गीकरण इस तरह सापेक्षिक है। आदिवासी समाजों के लिए तो जटिल संगठनों का कोई अस्तित्व ही नहीं है। उनके लिए तो परिवार, नातेदारी, गांव, भजन मंडली आदि ही महत्वपूर्ण समूह हैं।

जब समूह का वर्गीकरण करते हैं तो इसके लिए तर्क होते हैं। वर्गीकरण के आधार होते हैं। समूह के वर्गीकरण के लिए यदि मानदंडों को निर्धारित किया जाए तो एक मानदंड आकार होगा, दूसरा सामाजिक संबंधों की गहनता, भौतिक दूरी, अस्तित्व की अवधि और ऐसी ही कई कसौटियाँ निश्चित। वास्तविकता यह है कि सभी समूह समान नहीं होते। आकार, जटिलता, सदस्यता, उद्देश्य और साधन के आधार पर समूहों में विभिन्नता देखने को मिलती है। परिवार जैसे समूह आकार में छोटे होते हैं। दूसरी ओर आर्थिक और राजनीतिक समूह काफी बड़े होते हैं। समूहों को प्राथमिकद्वितीयक-, अंतर्समूहबाह्य समूह-, सदस्यतानकारात्मक समूहों की श्रेणियों में विभाजित किया ज-असदस्यता तथा सकारात्मक-ा सकता है। मर्टन जैसे समाजशास्त्री ने व्यक्ति की समूह के प्रति उन्मुकत्ता के आधार पर संदर्भ समूह की धारणा को समाजशास्त्र में विकसित किया है। एंथोनी गिडेंस ने तो आधुनिक औद्योगिक और अधिकारीतंत्र से जुड़े समाज में बहुत बड़े संगठनों को समूह की श्रेणी में रखा है। उनका तर्क है कि आधुनिक औद्योगिक पूंजीवादी समाजों का जीवन वस्तुतः औपचारिक संगठनों द्वारा नियंत्रित किया जाता है। वे तो बड़े सहज रूप में कहते हैं कि औद्योगिक समाज यानी संगठन समूहों का समाज। यद्यपि भारत और एषिया के अन्य देशों में उद्योगीकरण अत्यधिक विकसित नहीं हुआ है, फिर भी इन देशों में उद्यमिता तीव्रगति से बढ़ रही है। ऐसी अवस्था में विकासशील देशों में उद्योगीकरण से जुड़े हुए संगठनों को भी समूह के वर्गीकरण में पर्याप्त स्थान मिलना चाहिए।

समाजशास्त्रियों ने समूह का वर्गीकरण तो किया है लेकिन इस संबंध में, उनमें कोई एक राय हो ऐसा नहीं है। किसी ने समूह के आकार को आधार बनाया है तो किसी ने समय को वर्गीकरण का आधार

माना है। सच्चाई यह है कि समूह का वर्गीकरण सभी ने अपनेअपने तर्क और संदर्भ के आधार पर किया - है। परिणामस्वरूप समूह के वर्गीकरण अनेक हैं, उनमें मतैक्य का अभाव है। इस विभिन्नता के होते हुए भी निश्चित रूप से सभी समाजशास्त्री अमेरिकी समाजशास्त्री चार्ल्स होर्टन कूले से सहमत हैं। उन्होंने प्राथमिक समूह को अनिवार्य प्रकार बताया है। दूसरे वर्गीकरण सदस्यों की संख्या के आधार पर स्थायित्व के आधार पर और अन्य आधारों पर निश्चित प्रकारों में रखे गए हैं। यहां हम कतिपय उल्लेखनीय वर्गीकरणों का वर्णन करेंगे।

कूले ने सबसे पहली बार प्राथमिक समूह की अवधारणा को रखा था। प्राथमिक समूह से उनका तात्पर्य लोगों के उस छोटे साहचर्य से है, जिनमें सदस्य एक दूसरे से भावनात्मक स्तर पर जुड़े होते हैं। प्राथमिक समूहों में परिवार, नातेदार, मित्र मंडली, छोटे मोटे गांव, पड़ोस आदि सम्मिलित हैं। प्राथमिक समूह की यह अवधारणा कूले ने 20वीं शताब्दी के प्रारंभ में रखी थी। तब शायद सम्मिलित समूह का इस प्रकार का अर्थ प्रासंगिक भी था। आज विकसित और विकासशील देशों में परिवार जैसे प्राथमिक समूह को संदेह की दृष्टि से देखने लगे हैं। कई समाजों में अब परिवार अनिवार्य रूप से एक संतोषजनक समूह नहीं रहा। नातेदारों का प्राथमिक समूह भी संकट के कगार की ओर कभी धीरेधीरे और कभी तेजी से बढ़ता - जा रहा है। यही बात मित्र मंडली पर भी लागू होती है। ऐसा लगता है कि दुनियां भर के प्राथमिक समूह आज वैसे नहीं रहे, जैसी उनकी कल्पना कूले ने की थी।

4.5 प्राथमिक एवं द्वितीयक समूह

प्राथमिक समूह: प्राथमिक समूह के कई दृष्टांत हैं, परिवार, मित्र मंडली, जनजातीय समाज, पड़ोस और खेल समूह। इनके सदस्यों के बीच में घनिष्ठ, अनौपचारिक, प्रत्यक्ष संबंध होते हैं। इस समूह के सदस्यों में अपनत्व की भावना होती है। भारतीय गांव एक प्राथमिक समूह है। गांव के लोग न केवल एक दूसरे को व्यक्तिगत रूप से जानते हैं, वे प्रत्येक परिवार के इतिहास से परिचित होते हैं। इरावती कर्वे अपनी पुस्तक दि हिंदु सोशल ऑर्गेनाइजेशन में कहती है कि गांव में जब कोई अजनबी आता है तो उसकी पहचान अजनबी के रूप में सारा गांव करता है। गांव के एक परिवार का दामाद वस्तुतः संपूर्ण गांव का दामाद समझा जाता है। एक परिवार का भानजा संपूर्ण गांव का भानजा समझा जाता है। ये सब संबंध प्राथमिक हैं। कम से कम आज भी भारतीय गांवों में प्राथमिक समूह का महत्व किसी भी अर्थ में कम नहीं किया जा सकता।

कूले ने अपनी पुस्तक **सोशल ऑरगेनाइजेशन** में प्राथमिक समूह की परिभाषा इस तरह की हैप्राथमिक : समूहों से मेरा तात्पर्य ऐसे समूहों से है, जिनकी विशेषता आमनेसामने के घनिष्ठ साहचर्य और सहयोग के - रूप में व्यक्त होती है। ये समूह अनेक अर्थों में प्राथमिक हैं, परंतु मुख्यतः इस बात में कि वे व्यक्ति की

सामाजिक प्रकृति और आदर्शों के निर्माण में मौलिक है। घनिष्ठ साहचर्य का परिणाम यह होता है कि एक सामान्य संपूर्णता में वैयक्तिकताओं का इस प्रकार एकीकरण हो जाता है कि प्रायः कई प्रयोजनों के लिए व्यक्ति का अहम् समूह का सामान्य जीवन और उद्देश्य बन जाता है। इस संपूर्णता के वर्णन के लिए अति सरल विधि 'हम' कहना उचित होगा, क्योंकि यह अपने में उस प्रकार की सहानुभूति और पारस्परिक पहचान को समाविष्ट करता है। इसके लिए 'हम' ही स्वाभाविक अभिव्यक्ति है।

किंग्सले डेविस ने अपनी पुस्तक ह्यूमन सोसायटी में कूले की उपरोक्त परिभाषा की व्याख्या की है। वे कहते हैं कि प्राथमिक समूह के सदस्यों में हम की भावना सर्वोपरि होती है। वैसे हम दैनिक जीवन में कई लोगों के साथ रूबरू संबंध रखते हैं। व्यापारी और ग्राहक के संबंध, बैंक के काउंटर पर बैठे बाबू से संपर्क या आमनेसामने के संबंध होते हैं-, लेकिन ये आमनेसामने के संबंध निश्चित रूप से किसी - प्राथमिक समूह को नहीं बनाते। ये प्राथमिक समूह तो तबबनते हैं जब भावात्मक स्तर पर लोग आमने- -लिए गहन संवेगों का होना आवश्यक है। यह भी संभव है कि कभी सामने मिलते हैं। प्राथमिक समूह के कभार द्वितीयक समूहों में भी कई बार प्राथमिक समूह बन जाते हैं। बैंकिंग उद्योग में कई लोग काम करते हैं। यह द्वितीयक समूह हैं पर इसमें मुट्ठी भर लोग ऐसे भी होते हैं जो अपने आपको प्राथमिक स्तर पर बांध लेते हैं।

यद्यपि डेविस ने कूले की प्राथमिक समूह की परिभाषा की सटीक व्याख्या की है, पर वे इस तरह की परिभाषा से असहमत भी हैं। कूले हम की भावना पर अत्यधिक जोर देते हैं। उनका तो कहना है कि प्राथमिक समूह ही क्यों, सभी समूहों में कम या ज्यादा हम की भावना अवश्य होती है। ऐसी अवस्था में हम की भावना केवल प्राथमिक समूह की विशेषता हो, ऐसा नहीं है। भारत एक राष्ट्र है यानी यह द्वितीयक समूह है, इसमें हम की भावना अनिवार्य रूप से पायी जाती है। हमारा भारत महान है, हम सभी भारतवासी हैं। ये सब मुहावरे हम की भावना से बंधे हुए हैं। ऐसा होते हुए भी भारत राष्ट्र प्राथमिक समूह नहीं है। कूले का तो कहना है कि प्राथमिक समूह के संबंध संपूर्ण जीवन को अपने परिवेश में समेट लेते हैं। जब परिवार प्राथमिक समूह है तो वह अपने सदस्यों के संपूर्ण जीवन की देखरेख करता है। तात्पर्य यह है कि प्राथमिक समूह अपने सदस्यों के संपूर्ण जीवन को अपनी सीमाओं में बांध लेता है।

इलेक्स इंकेल्स ने प्राथमिक समूह की बहुत बड़ी विशेषता आमनेसामने या आत्मिक संबंधों को - :माना है। वे लिखते हैं

प्राथमिक समूह के सदस्यों के संबंध भी प्राथमिक होते हैं, जिनमें व्यक्ति एक दूसरे से आमने सामने मिलते हैं। इन समूहों में सहयोग और साहचर्य की भावनाएं इतनी प्रभावपूर्ण होती हैं कि व्यक्ति का अहं हम की भावना में बदल जाता है।

प्राथमिक समूह की विशेषताएं

1. **एक से अधिक व्यक्ति**कूले ने जब प्रारंभ में प्राथमिक समूह की परिभाषा दी :, तब उन्होंने कहा कि समूह के लिए एक से अधिक सदस्यों का होना आवश्यक है। समूह के इस लक्षण के संबंध में बाद के सभी समाजशास्त्रियों ने यह एक अनिवार्य लक्षण स्वीकार किया।

2. **संवेग:** कूले ने प्राथमिक समूह का दूसरा लक्षण संवेग बताया। ये संवेग हम की भावना को सुदृढ़ करते हैं। जब समूह के सदस्य संवेगात्मक रूप से जुड़े होते हैं तब बिना किसी हानिलाभ की चि-ंता करते हुए वे एकजुट होकर रहते हैं।

3. **पारस्परिक पहचान**कूले ने प्राथमिक समूह की एक और विषेशता पारस्परिक पहचान बता:ई है। इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति की समाज या समुदाय में पहचान अपने परिवार से होती है, अपने आप में वह कुछ नहीं है।

4. **शारीरिक समीपता:** किंग्सले डेविस ने प्राथमिक समूह का बहुत बड़ा लक्षण शारीरिक समीपता को माना है। एक ही छत के नीचे रहने के कारण प्राथमिक समूह के सदस्य एक दूसरे को बहुत निकटता से समझते हैं। ये सदस्य एक ही चूल्हे से भोजन करते हैं, एक ही बटुए से खर्च करते हैं और सदस्यों के संपूर्ण जीवन का सरोकार प्राथमिक समूह से होता है। रोटी, कपड़ा, मकान, स्वास्थ्य, शिक्षा, रोजगार सभी में प्राथमिक समूहों के सदस्यों की किसी न किसी प्रकार से भागीदारी होती है।

5. **लघु आकार:** डेविस यह भी कहते हैं कि प्राथमिक समूहों का आकार छोटा होता है। छोटे आकार की कोई संख्या निर्धारित नहीं है, लेकिन आकार इतना छोटा होना चाहिए कि समूह के सदस्य एक दूसरे से प्राथमिक रूप से जुड सकें अथवा संपर्क कर सकें। नातेदार और समुदाय के सदस्य अंतर्क्रियाओं की दृष्टि से एक दूसरे के निकट होते हैं। इसीलिए डेविस कहते हैं कि समूह का आकार इतना छोटा होना चाहिए कि सदस्य एक दूसरे से प्रत्यक्ष संपर्क बनाए रख सकें। रेडफील्ड ने भी समूह के छोटे आकार को स्वीकार किया है।

6. **संबंधों की अवधिः** यह लक्षण भी डेविस ने रखा है। वे कहते हैं कि प्राथमिक समूह के सदस्यों के संबंध छोटी अवधि के लिए नहीं होते। संबंध जितने लम्बे समय के लिए होंगे, प्राथमिक समूह उतना ही अधिक सुदृढ़ और सुगठित होगा। गांव के लोग पीढ़ीपीढ़ी एक दूसरे से जुड़े रहते हैं। पीढ़िया-दर-ं भी इसी भांति परिवार से जुड़ी रहती है। नातेदारी के संबंध भी लम्बी अवधि तक चलते हैं।

7. **सुनिश्चितता:** रॉबर्ट रेडफील्ड ने प्राथमिक समूह के जो लक्षण रखे हैं, उनका संदर्भ ग्रामीण समुदाय से है। उन्होंने मेक्सिको के गांवों का अध्ययन किया है। भारतीय सामाजिक मानवशास्त्री इस शताब्दी के पांचवें दशक में रेडफील्ड के ग्रामीण अध्ययन से बहुत अधिक प्रभावित थे। इस दशक में तो रेडफील्ड की लोकप्रियता हमारे यहां चरम सीमा पर थी। रेडफील्ड ने प्राथमिक समूह की बहुत बड़ी विशेषता सुनिश्चितता को बताया है। इसका मतलब यह है कि एक प्राथमिक समूह दूसरे अगणित प्राथमिक समूहों से पृथक् होता है। इसकी अपनी एक अलग पहचान होती है। गांव के संदर्भ में रेडफील्ड कहते हैं कि यह बहुत निश्चित है कि गांव यहां प्रारंभ होता है और वहां समाप्त होता है। परिवार की भी ऐसी ही पृथकता होती है। यह परिवार अमुक पीढ़ियों का है, इसका गोत्र यह है और सामान्यतया इस परिवार में इस तरह के व्यवसाय होते रहते हैं।

8. **सजातीयता:** प्राथमिक समूह के सदस्य चाहे पुरुष हों या स्त्री, छोटे हों या बड़े, समान स्तर के होते हैं। सामान्यतया सोच विचार, शिक्षादीक्षा और ध-ंधे में इन सदस्यों में कोई बहुत बड़ा अंतर नहीं होता। इसी कारण रेडफील्ड सजातीयता को प्राथमिक समूहों का बहुत बड़ा लक्षण मानते हैं। ग्रामीण समुदाय में तो धंधे की यानी कृषि की सजातीयता बहुत अधिक होती है। बाढ़ आ गई या सूखा पड़ गया, तब गांव के सभी लोग निराशा की सांस में ऊपर नीचे होने लगते हैं। यह एक प्रकार की मानसिक सजातीयता है।

9. **आत्मनिर्भरता:** रेडफील्ड गा ंवों के बारे में कहते हैं कि यहां आत्मनिर्भरता होती है। पालने से लेकर शमशान घाट तक की संपूर्ण आवश्यकताएं गांव में पूरी हो जाती हैं। इस अर्थ में प्राथमिक समूह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में आत्मनिर्भर होते हैं, परिवार को देखिएगरीब हो या अमीर -, अपने भाई-बहिनों की सभी आवश्यकताए ं यहां पूरी हो जाती हैं। मित्र मंडली भी एक ऐसा समूह है जो अपने मित्रों की सहायता सभी आवश्यकताओं में करते हैं। यही हाल नातेदारों का भी है।

हमारे यहां गांधीजी जीवन भर यह कहते रहे कि हमें गांवों को स्वावलंबी बनाना चाहिए। इससे उनका तात्पर्य यह था कि गांव के लोग स्वयं अपनी आवश्यकताओं को पूरा करें। लोगों को खाने के लिए जितना अनाज चाहिए, गांव के खेतों में पैदा किया जाना चाहिए। गांव की अतिरिक्त उपज ही बाजार में पहुंचानी चाहिए। गांव के कपड़े की आवश्यकता जुलाहे के करघे को करनी चाहिए। बुनियादी शिक्षा गांव के स्कूल से मिल जानी चाहिए। ये सब तत्व या ऐसे ही तत्व प्राथमिक समुदाय को स्वावलंबी बनाते हैं। यह निश्चित है कि आज के विश्वव्यापीकरण और उदारीकरण के युग में आत्मनिर्भरता हाशिये पर आ गई है, फिर भी कई ऐसी आवश्यकताएं हैं जो सामान्यतया प्राथमिक समूह के सदस्यों के कारण पूरी हो जाती हैं। रेडफील्ड ने प्राथमिक समूह के जो लक्षण दिए हैं, उनमें कतिपय लक्षण आधुनिक समाज के लिए

अप्रासंगिक हो गए हैं। स्वयं रेडफील्ड ने इस अप्रासंगिकता की चर्चा की है। ऐसा लगता है कि उद्योगीकरण, शहरीकरण के कारण समाज में जो तीव्र परिवर्तन आ रहे हैं, उनमें प्राथमिक समूहों की भूमिका धीरेधीरे-, लेकिन निश्चित रूप से सिकुड़ रही है।

10. अंतर्क्रियाएँ: होमंस और इसी भांति विलियम वाइट ने प्राथमिक समूह का बहुत बड़ा लक्षण अंतर्क्रिया को माना है। समूह के सदस्य एक दूसरे से बराबर मिलते जुलते रहते हैं। अंतर्क्रियाओं में ही, होमंस कहते हैं, संवेग पाए जाते हैं। अंतर्क्रिया और संवेग प्राथमिक समूह के सदस्यों को एक सूत्र में बांधते हैं।

11. प्रतियोगिता और संघर्ष :प्राथमिक समूह इसी समाज की उपज हैं। इन समूहों में कितनी ही एकता और सुदृढ़ता हो, दरारें अवश्य होती हैं। महाभारत का युद्ध कोई दो विरोधी समूहों में नहीं हुआ था। इस युद्ध में कौरव और पांडव यानी भाईए मिला कि कैकेयी को भाई ही लड़े थे। राम को वनवास इसलि- दशरथ का राम को राजा बनाना रास नहीं आया और इसी कारण राम को वनवास जाना पड़ा। महाकाव्य की कथाओं के ये दृष्टांत मिथक कहे जा सकते हैं। इन्हें छोड़ दें तब भी आज प्रत्येक प्राथमिक समूह में मिट्टी के चूल्हे हैं। मित्रमित्र में लड़ाई-, सगेस-ंबंधी में झगड़ा, गांव में राजनीतिक दलबंदी और परिवार में संपत्ति बँटवारे पर झगड़ा, सभी प्राथमिक समूहों में संघर्ष है, प्रतियोगिता है।

द्वितीयक समूहः कूले ने प्राथमिक समूह के विवरण में द्वितीयक समूह की चर्चा नहीं की है। शायद 20वीं शताब्दी के प्रारंभ में विदेशों में भी द्वितीयक समूहों का अधिक महत्व नहीं था। इसी कारण कूले ने प्राथमिक समूहों की व्याख्या तक ही अपने आपको सीमित रखा। इन देशों में उद्योगीकरण और शहरीकरण के परिणामस्वरूप द्वितीयक समूह महत्वपूर्ण होने लगे हैं। इसी कारण 20वीं शताब्दी के मध्य में पहुंचकर द्वितीयक समूह अध्ययन के मुख्य क्षेत्र बन गए। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि समाज जितना अधिक आधुनिक, औद्योगिक और पूंजीवादी होगा, उतने ही अधिक उसमें द्वितीयक समूह होंगे। कूले के बाद के समाजशास्त्रियों ने द्वितीयक समूह की व्याख्या विशद् रूप में की है। यहां हम द्वितीयक समूह की कतिपय महत्वपूर्ण परिभाषाओं का उल्लेख करेंगे।

एंथोनी गिडेंय जब द्वितीयक समूह को परिभाषित करते हैं तो निश्चित रूप से उनका संदर्भ अमेरिका है। इस देश में तो मनुष्य का संपूर्ण जीवन ही द्वितीयक समूह की परिसीमा में आ जाता है। इस तरह के विशाल समूह के संदर्भ में द्वितीयक समूह की व्याख्या करते हुए गिडेंस लिखते हैंएक द्वितीयक समूह : मनुष्यों की संख्या है जो नियमित रूप से मिलते हैं, लेकिन जिनके संबंध मुख्य रूप से अवैयक्तिक होते हैं। द्वितीयक समूहों में व्यक्तियों के संबंध प्रगाढ़ नहीं होते। ये लोग सामान्यतया एक दूसरे के निकट तब आते हैं जब उनके कुछ व्यावहारिक और निश्चित काम होते हैं।

एंथोनी गिडेंस द्वितीयक समूह की तालिका में किसी एक कमेटी या क्लब को सम्मिलित करते हैं। वास्तव में देखा जाए तो कई ऐसी सामाजिक स्थितियां होती हैं, जिनमें प्राथमिक और द्वितीयक समूहों में कोई निश्चित अंतर करना कठिन हो जाता है। राजनीतिक दलों, शिक्षण संस्था की कमेटियों और व्यापारिक संगठनों में कई सदस्य एक दूसरे के साथ मित्रता स्थापित कर लेते हैं। ऐसे लोग बड़े सहज भाव से एक दूसरे से मिलते भी हैं। वे अवैयक्तिक कार्य भी करवा लेते हैं। व्यापारिक संगठनों के लोग अनौपचारिक रूप से यानी प्राथमिक समूहों की तरह जीवन के कई क्षेत्रों में एक दूसरे की सहायता करते हैं। तथ्यपूर्ण बात यह है कि द्वितीयक समूहों में भी कई छोटेछोटे प्राथमिक समूह बन जाते हैं। सरकारी अधिकारी तंत्र - तो पदोन्नति में, स्थानांतरण आदि मुद्दों पर अधिकारीतंत्र के प्राथमिक समूह ही काम में आते हैं।

द्वितीयक समूह की विशेषताएं

1. द्वितीयक समूह लोगों की एक समिति है ये समूह मध्यम आकार से वृहद् आकार के होते हैं। इनमें सदस्यों की संख्या बहुत बड़ी होती है। इसी कारण लोग एक दूसरे को जानते भी नहीं हैं। इन द्वितीयक समूहों को समिति इसलिए कहते हैं कि इनकी स्थापना सोच समझकर विधिवत् रूप से की जाती है। द्वितीयक समूहों के उदाहरण में अधिकारीतंत्र, स्वयंसेवी संस्थाएं, व्यावसायिक संगठन आदि सम्मिलित हैं।

2. अवैयक्तिक संबंध यक समूह के सदस्य एक दूसरे कोद्विती :व्यक्तिगत रूप से नहीं जानते। बैंक के काउंटर पर वह व्यक्ति जो चैक लेता है या डाकघर में जो बाबू टिकट देता है, वह कौनसी जातिबिरादरी - का है, कहां का रहने वाला है, विवाहित या अविवाहित है, इससे हमें कोई व्यक्तिगत जानकारी नहीं है। हमारा उद्देश्य तो चेक का धन लेना या डाक टिकट लेना है। तात्पर्य हुआ, द्वितीयक समूह के सदस्यों के साथ हमारे संबंध किसी सुनिश्चित उद्देश्य को लेकर ही होते हैं। इससे आगे संबंधों का हमारा कोई सरोकार नहीं होता।

3. संबंधों का आधार संविदा होती हैके साथ ल द्वितीयक समूह के सदस्यों :ंबी अवधि तक हमारे संबंध होते हैं। बाजार का कामकाज बैंक के संबंधों के बिना नहीं हो सकता। चिकित्सालय या सेवार्थ संस्थाओं के द्वितीयक संगठनों के साथ भी हमारे संबंध निश्चित नियमों के अनुसार होते हैं। कोई किसी पर कृपा नहीं करता।

4. औपचारिक संबंध :द्वितीयक समूहों में लोगों के साथ हमारे संपर्क वस्तुतः प्रस्थिति और भूमिका से जुड़े होते हैं। किसी अमुक प्रस्थिति में कौनसा व्यक्ति काम करता है, इस व्यक्ति से हमें कोई मतलब नहीं। आज इस प्रस्थिति में महेश काम करता है, कल वह चला जाता है और उसके स्थान पर सुरेश आ

जाता है। हमें महेश व सुरेश से कोई तात्पर्य नहीं है। हमारा संबंध तो उस प्रस्थिति के साथ है, जिस पर इन नामों के लोग काम करते थे। अतः द्वितीयक समूह में हमारे संपर्कों का उपागम हर स्थिति में औपचारिक ही होता है।

5. निश्चित उद्देश्य: द्वितीयक समूह में व्यक्ति के जीवन की संपूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती। प्रत्येक संगठन के कुछ सीमित और निश्चित लक्ष्य होते हैं। ये संगठन इन लक्ष्यों की पूर्ति के लिए ही काम करते हैं, इनसे आगे नहीं। अतः जहां कहीं हमारा संगठनों से वास्ता पड़ता है तो हमारे संबंध कुछ सीमित क्षेत्रों में ही होते हैं। चिकित्सालय हमें बीमारी का निदान तो देगा लेकिन यदि हम इससे हमारे पहनने के कपड़े मांगे तो इस आवश्यकता की पूर्ति का काम चिकित्सालय के क्षेत्र से बाहर है।

6. संविदा के उल्लंघन पर दंड हम आग्रहपूर्वक कह रहे हैं कि द्वितीयक समूह संविदा की सीमा में काम करते हैं। यदि ये समूह संविदा की शर्तों को नहीं मानते तो इसका खामियाजा उन्हें पंचों या अदालत के माध्यम से भोगना पड़ेगा। जब बीमा धारक को उसकी निश्चित धनराशि नहीं मिलती या उसके भुगतान में अड़चने आतीहैं तो दोनों के लिए अदालत खुली है। संविदा द्वितीयक समूहों के सदस्यों के व्यवहार को नियंत्रित करती है।

4.6 प्राथमिक एवं द्वितीयक समूह की तुलना

निश्चित रूप से विकसित समाजों में द्वितीयक समूह प्रधान होते हैं जबकि विकासशील समाजों में इन समूहों की प्रधानता कम हो जाती है। इससे आगे आदिम समाजों में तो केवल मुट्ठी भर प्राथमिक समूह होते हैं और द्वितीयक समूह थोड़े हो जाते हैं। देखना यह है कि इन समूहों में अंतर का निर्णायक आधार कौनसा है। जिन समाजशास्त्रियों ने प्राथमिक और द्वितीयक समूहों का अंतर स्पष्ट किया है, वे सभी इस तथ्य से सहमत हैं कि यह अंतर सामाजिक संबंधों की प्रकृति का है। यदि द्वितीयक समूहों में सामाजिक संपर्क होते हैं तो ये प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष होते हैं, लेकिन संबंध अवश्य होते हैं और प्राथमिक समूहों में भी संबंध ही होते हैं। संबंधों की समानता होते हुए भी यह संबंधों की प्रकृति है जो इन दोनों समूहों को पृथक् पहचान देती है।

चार्ल्स कूले ने जब प्राथमिक समूह की अवधारणा को प्रस्तावित किया तो उन्होंने बड़ा जोर देकर कहा कि इन समूहों में संबंध आमनेसामने के होते हैं। संबंध केवल औपचारिक नहीं होते-, वैयक्तिक होते हैं। इन संबंधों में आत्मीयता होती है, अपनापन होता है। संबंधों की इसी निकटता के कारण वे परिवार, मोहल्ले में खेलने वाले बच्चे, पड़ोसी आदि को प्राथमिक समूह का अंग मानते हैं। आगे चलकर कूले जब यह कहते हैं कि ये प्राथमिक समूह इसलिए भी प्राथमिक है कि जीवन के प्रारंभ में इनका महत्व बहुत अधिक होता है। ये समूह तो जीवन की नर्सरी है और कोई भी समाज इनकी अवहेलना नहीं कर सकता। प्राथमिक और द्वितीयक समूह के अंतर की इस प्रस्तावना के बाद इनके अंतर को हम निम्न बिंदुओं में रखेंगे।

- सामान्यतया प्राथमिक समूह छोटे होते हैं और छोटे भी इतने कि समूह के सदस्य एक दूसरे के साथ निकट संबंध स्थापित कर सकें। दूसरी ओर द्वितीयक समूह वृहद् आकार के होते हैं और उनमें साहचर्य नहीं होता। द्वितीयक समूहों को बांधने का काम समूह के एक जैसे लक्ष्य ही करते हैं। चिकित्सकों का व्यावसायिक समूह स्थानीयता से उठकर क्षेत्र, राज्य या देश तक होता है। ये चिकित्सक व्यक्तिगत रूप से एक दूसरे को बहुत कम जानते हैं फिर भी वे द्वितीयक समूह बनाते हैं, ठीक इसी तरह हिंदुस्तान के लगभग 8 करोड़ आदिवासी एक दूसरे से परिचित नहीं हैं, फिर भी वे द्वितीयक समूह बनाते हैं। संविधान द्वारा दी गई सुरक्षा ने उन्हें एक सूत्र में बांध दिया है।
- प्राथमिक समूह के संबंध घनिष्ठ और वैयक्तिक होते हैं। इन संबंधों का आधार सहज रूप से संवेगात्मक होता है। मातापित-ा कैसे भी हों, लेकिन हैं वे मातापिता। ये संवेग ही प्राथमिक - समूह की पूंजी है। द्वितीयक समूहों में संबंध अवैयक्तिक, औपचारिक और उद्देश्यपरक होते हैं। जब तक द्वितीयक समूह के सदस्य हैं, संबंध बने रहते हैं। जब मुंबई छोड़ दिया और कानपुर में बस गए तो मुम्बई अपना नहीं रहा और कानपुर अपना द्वितीयक समूह बन गया। द्वितीयक समूह के संबंध निरंतरता नहीं रखते। प्राथमिक समूह में संबंधों की गहराई होती है। भाई का स्थानांतरण कहीं और हो जाता है तब भी बहिन उसकी बहिन ही है। संबंधों की यह गहराई बड़ी सरलता से प्राथमिक और द्वितीयक समूहों के बीच में एक लक्ष्मण रेखा खींच देती है। प्राथमिक समूहों के संबंधों की गहराई इतनी अधिक होती है कि यह पीढ़ी पीढ़ी चलती रहती है।-दर-
- संबंध तो प्राथमिक और द्वितीयक दोनों समूहों में होते हैं, लेकिन प्राथमिक समूह के संबंध सर्वांगीण होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि इन समूहों में सभी तरह के संबंध होते हैं। उदाहरण के लिए, परिवार के सदस्य अन्य सदस्यों के लिए सभी तरह की सहायता उपलब्ध करवाते हैं। खानपान-, शिक्षा, मनोरंजन, बीमारी यानी सदस्यों के जीवन के सभी क्षेत्रों में परिवार के सदस्य एक दूसरे की सहायता करते हैं। मतलब यह हुआ कि जहां तक संभव हो, प्राथमिक समूह के सदस्यों की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति स्रोतों की उपलब्धि पर निर्भर है। द्वितीयक समूहों के संबंध एकमात्र सीमित उद्देश्यों तक ही बंधे रहते हैं। सहकारी समिति ऋण दे सकती है, अपने सदस्यों की बीमारी में सेवा सुश्रुषा नहीं कर सकती। विश्वविद्यालय का अध्यापक अधिक से अधिक अपनी पूरी निष्ठा से अध्यापन कर सकता है, लेकिन विद्यार्थी को रोटी, कपड़ा और मकान तो नहीं दे सकता। बहुत थोड़े में कहना चाहिए कि जहां प्राथमिक समूह सदस्यों की संपूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं, वहां द्वितीयक समूह एक मात्र समूहों से जुड़े हुए उद्देश्यों की ही पूर्ति करते हैं।
- प्राथमिक और द्वितीयक समूहों का उद्देश्य अपने सदस्यों पर नियंत्रण रखना है। दोनों ही समूह सदस्यों को संबद्धता के सूत्र में बांधे रखते हैं। लेकिन दोनों के नियंत्रण की प्रकृति में अंतर है। प्राथमिक समूह के नियंत्रण का आधार नैतिक मूल्य और निश्चित परंपरागत मानदंड होते हैं।

इनकी अवहेलना करने पर लोग यानी प्राथमिक समूहों के अन्य सदस्य उनकी आलोचना करते हैं। दूसरी ओर द्वितीयक समूह में नियम का उल्लंघन करने पर कानूनी कार्रवाई की जाती है। यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि द्वितीयक समूह के सदस्य संविदा से बंधे होते हैं। इसी कारण हम कहते हैं कि दोनों समूह सामाजिक नियंत्रण तो रखते हैं लेकिन प्राथमिक समूहों का नियंत्रण नैतिकता और परंपरा पर आधारित होता है, द्वितीयक समूहों का नियंत्रण कानूनी होता है।

- प्राथमिक और द्वितीयक समूहों के अंतर को बहुत स्पष्ट रूप से कैंची की तरह काटकर रखा नहीं जा सकता। किसी के लिए भी यह कहना बहुत मुश्किल है कि यहां प्राथमिक समूह समाप्त होते हैं और वहां द्वितीयक समूह प्रारंभ होते हैं। दूध और पानी को अलग करना कठिन है। यह इसलिए कि प्रत्येक द्वितीयक समूह में कई प्राथमिक समूह होते हैं। जितना बड़ा द्वितीयक समूह होगा, उतने ही अधिक उसमें प्राथमिक समूह होंगे। पिछले पृष्ठों में हमने कई बार दोहराया है कि द्वितीयक समूह में भी प्राथमिक समूह उभर आते हैं। हम प्रायः कहते हैं कि अमुक राजनीतिक दल में गुटबाजी है। यह इसका गुट है और वह उसका। ये गुट वस्तुतः प्राथमिक समूह है। कहना यह चाहिए कि प्रत्येक द्वितीयक समूह में सामान्यतया प्राथमिक समूह होते हैं।

4.7 सारांश

हमने इस इकाई में सामाजिक समूह की अवधारणा को समझने का प्रयास किया है। सामाजिक समूह वह है जिसमें दो या दो से अधिक व्यक्ति हों, एक ही प्रकार के परस्पर संबंध हों, यानी समान विश्वास, मूल्य और आदर्शों पर आधारित हो, साथ ही इन परस्पर संबंधों में नियमितता होनी चाहिए तभी सामाजिक समूह का निर्माण होता है। सामाजिक समूह का निर्माण कुछ मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होता है। मानव जीवित तभी रहता है, जब वह समूह का सक्रिय सदस्य हो। परिवार ऐसा समूह है जिससे हमें अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने में मदद मिलती है। अलग अलग-व्यक्ति के रूप में हमारे लिए सभी आवश्यकताओं को पूरा करा संभव नहीं है। समूह द्वारा ही हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। समूहों के माध्यम से ही हमें अनेक प्रकार की संतुष्टि प्राप्त होती है। अतः हमारे लिए किसी भी समूह का अंग होना महत्वपूर्ण हो जाता है। समूह मुख्य रूप से प्राथमिक व द्वितीयक होते हैं। संबंधों की घनिष्ठता के आधार पर ही समूह के प्रकार विकसित होते हैं।

4.8 बोध प्रश्न

1. सामाजिक समूह को परिभाषित करते हुए उसकी प्रमुख विशेषताएं बताइए।
2. सामाजिक समूह का वर्गीकरण प्रस्तुत कीजिए।
3. प्राथमिक एवं द्वितीयक समूह का तुलनात्मक विवेचन कीजिए।

4.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. गिडेंस, एंथोनी, सोशियोलॉजी, चतुर्थ संस्करण, पोलिटी, यू.के., 2001.
2. हेरालाम्बोस एवं होलबोर्न, सोशियोलॉजीः थीम्स एंड पर्सपेक्टिव, पंचम संस्करण, कोलिंस, लंदन, 2000.
3. रावत, एच.के., सोशियोलॉजी बेसिक कंसेप्ट, रावत, जयपुर, 2007.

इकाई-5 समिति : अर्थ, विशेषताऐं एवं प्रकार
(Association: Meaning, characteristics & types)

इकाई की रुपरेखा

5.0 प्रस्तावना

5.1 उद्देश्य

5.2 समिति का अर्थ व परिभाषाएं

5.3 समिति के अनिवार्य तत्व

5.4 समिति की प्रमुख विशेषताएं

5.5 समितियों के प्रकार

5.6 सारांश

5.7 अभ्यास प्रश्न

5.8 पारिभाषिक शब्दावली

5.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

5.10 निबंधात्मक प्रश्न

5.0 उद्देश्य

इस इकाई का मुख्य उद्देश्य समिति व समिति के विभिन्न प्रकार की पूर्ण जानकारी प्रदान करना हैइस , इकाई के अध्ययन के बाद आप समिति के बारे में पर्याप्त जानकारी प्राप्त कर सकेंगे ।

5.1 प्रस्तावना

समाजशास्त्र के किसी भी विद्यार्थी को इस विषय को पढ़ने से पहले इसकी अवधारणाओं को समझ लेना चाहिए । सच में देखा जाए तो अवधारणाएं अपने औपचारिक रूप में निश्चित और स्पष्ट होती हैं। समाजशास्त्र की एक निश्चित पारिभाषिक शब्दावली है। इससे विद्यार्थी का पूरा संपर्क होना चाहिए। इसलिए मैकाइवर तथा पेज ने कहा कि समाजशास्त्र में भी प्रत्येक विज्ञान और ज्ञान की शाखा की तरह अपने निजी पारिभाषिक उपकरणों का एक परिवार है। इसलिए समाजशास्त्र के विद्यार्थी को चाहिए कि वह प्रारंभिक अभ्यास की तरह कुछ प्राथमिक अवधारणाओं को जो कि उसके अध्ययन क्षेत्र के आधार है, पकड लें और याद कर लें।

अवधारणाएं केवल शब्द नहीं हैं। कोई भी शब्दकोश शब्दों के अर्थ को तो देता है लेकिन इन शब्दों में निहित जो ऐतिहासिक एवं विधि संबंधी अर्थ निहित होते हैं, उनकी आख्या नहीं देता। कोई भी समाज विज्ञान तभी समृद्ध होगा जब उसके पास आधिकारिक अवधारणाएं होंगी। यहां हम समाजशास्त्र की कतिपय अवधारणाओं की व्याख्या करेंगे जो सामान्यतया समाजशास्त्र में पाई जाती हैं।

5.2 समिति –अर्थ व परिभाषाएं

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। सामाजिक प्राणी होने के कारण उसकी असीमित इच्छाएं व आवश्यकताएं हैं। जीवन को सुचारू रूप से चलाने के लिए व्यक्ति अपनी इन आवश्यकताओं की पूर्ति करने का प्रयास करता है। मैकाइवर एवं पेज के मतानुसार इन आवश्यकताओं या लक्ष्यों को पूरा करने के तीन ढंग हो सकते हैं प्रथम - व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं को स्वतंत्र रूप से अकेले ही बिना किसी की सहायता लिए स्वयं पूरा कर ले, परंतु यह एक तो असामाजिक ढंग है तथा दूसरे अत्यंत दुश्कर है, द्वितीय व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए दूसरे के हितों का हनन करे व उनसे संघर्ष करे। यह ढंग भी समाज विरोधी प्रवृत्ति को अधिक स्पष्ट करता है। यद्यपि संघर्ष जीवन का ही एक अंग है फिर भी यह असामाजिक है। समाज द्वारा इस तरीके को मान्यता प्रदान की जाती है तथा तृतीय व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं को दूसरे व्यक्तियों के सहयोग से पूरा करें। यह एक सामाजिक ढंग है। आवश्यकताओं को पूरा करने का तीसरा ढंग सीमित का आधार है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि पारस्परिक सहायता तथा सहयोग के आधार पर मिलजुल कर लक्ष्यों को पूरा करने वाले समूह या संगठन को हम समिति कह सकते हैं। जब कुछ लोग मिलकर अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए सहयोग के आधार पर किसी संगठन का निर्माण करते है तब इसी संगठन को हम समिति कहते हैं ।

समिति व्यक्तियों का समूह है। यह किसी विशेष हित या हितों की पूर्ति के लिए बनाया जाता है। परिवार, विद्यालय, व्यापार, संघ, चर्च, धार्मिक संघ, राजनीति दल ,राज्य इत्यादि समितियां हैं। इनका निर्माण

विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाता है। उदाहरणार्थ विद्यालय का -उद्देश्य शिक्षण तथा व्यावसायिक तैयारी है। इसी प्रकार श्रमिक संघ का उद्देश्य नौकरी की सुरक्षा, उचित पारिश्रमिक दरें, कार्य की स्थितियां इत्यादि को ठीक रखना है। साहित्यकारों या पर्वतारोहियों के संगठन भी समिति के ही उदाहरण हैं। जिंसबर्ग के अनुसार समिति आपस में संबंधित सामाजिक प्राणियों का एक समूह है जो एक निश्चित लक्ष्य या लक्ष्यों की पूर्ति के लिए एक सामान्य संगठन का निर्माण करते हैं। मैकाइवर एवं पेज के अनुसार सामान्य हित या हितों की पूर्ति के लिए दूसरों के सहयोग के साथ सोचविचार कर संगठित - किए गए समूह को समिति कहते हैं। गिलिन एवं गिलिन के अनुसार समिति व्यक्तियों का ऐसा समूह है जो किसी विशेष हित या हितों के लिए संगठित होता है तथा मान्यता प्राप्त या स्वीकृत विधियों और व्यवहारों द्वारा कार्य करता है। इसी भांति बोगार्डस के अनुसार समिति प्रायः किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए लोगों का मिलजुलकर कार्य करना है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि समिति व्यक्तियों का एक ऐसा समूह होता है जिसमें सहयोग व संगठन पाया जाता है। इसका प्रमुख उद्देश्य किसी लक्ष्य की पूर्ति है। समिति के सदस्य अपने विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति कुछ निश्चित निमयों के अंतर्गत सामूहिक प्रयास द्वारा करते हैं।

5.3 समिति के अनिवार्य तत्व

समिति के निम्नलिखित चार अनिवार्य तत्व हैं-

1. **व्यक्तियों के समूह** समिति समुदाय की ही तरह मूर्त है। यह - व्यक्तियों का एक संकलन है। दो अथवा दो से अधिक व्यक्तियों का होना समिति के निर्माण हेतु अनिवार्य है।

2. **सामान्य उद्देश्य**समिति का दूसरा आव - श्यक तत्व सामान्य उद्देश्य अथवा उद्देश्यों का होना है। व्यक्ति इन्हीं सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जो संगठन बनाते हैं उसे ही समिति कहा जाता है।

3. **पारस्परिक सहयोग** सहयोग समिति का तीसरा अनिवार्य तत्व है। इसी के आधार पर - समिति का निर्माण होता है। सहयोग के बिना समिति का कोई अस्तित्व नहीं है।

4. **संगठन -** समिति के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संगठन का होना भी आवश्यक है। संगठन द्वारा समिति की कार्यप्रणाली में कुशलता आती है।

समिति के निर्माण हेतु उपर्युक्त चारों तत्वों का होना अनिवार्य है, वस्तुतः समितियों का निर्माण अनेक आधारों पर किया जाता है। अवधि के आधार पर समिति स्थायी जैसे राज्य एवं अस्थायी जैसे बाढ़ सहायता समिति, सत्ता के आधार पर संप्रभु जैसे राज्य, अर्द्धसंप्रभु जैसे विश्वविद्यालय एवं संप्रभु जैसे क्लब

कार्य के आधार पर जैविक जैसे परिवार व्यावसायिक जैसे श्रमिक संघ मनोरंजनात्मक जैसे संगीत क्लब, परोपकारी जैसी सेवा समिति हो सकती हैं।

5.4 समिति की प्रमुख विशेषताएं–

समिति की विभिन्न परिभाषाओं से इसकी कुछ विषेषताएं भी स्पष्ट होती हैं। इनमें से प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं-

1. **मानव समूह** समिति का निर्माण दो - या दो से अधिक व्यक्तियों के समूह से होता है जिसका एक संगठन होता है। संगठन होने का आधार उद्देश्य या उद्देश्यों की समानता है।

2. **निश्चित उद्देश्य** समिति के जन्म के लिए - निश्चित उद्देश्यों का होना आवश्यक है। यदि निश्चित उद्देश्य न हो तो व्यक्ति उनकी पूर्ति के लिए तत्पर न होंगे और न ही समिति का जन्म होगा।

3. **पारस्परिक सहयोग** समिति अपने - उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए एक व्यवस्था का निर्माण करती है। उद्देश्य की प्राप्ति तथा व्यवस्था के लिए सहयोग होना अति आवश्यक है। चूंकि सदस्यों के समान उद्देश्य होते हैं, इस कारण इनमें सहयोग पाया जाता है।

4. **ऐच्छिक सदस्यता** प्रत्येक मनुष्य की अपनी - आवश्यकताएं हैं। जब वह मनुष्य सोचता है कि अमुक समिति उसकी आवश्यकता की पूर्ति कर सकती है तो वह उसका सदस्य बन जाता है। समिति की सदस्यता के लिए कोई बाध्यता नहीं होती है। इसकी सदस्यता ऐच्छिक होती है। इसे कभी भी बदला जा सकता है।

5. **अस्थायी प्रकृति -** समिति का निर्माण विशिष्ट उद्देश्यों के पूर्ति के लिए किया जाता है। जब उद्देश्यों की प्राप्ति हो जाती तो वह समिति समाप्त हो जाती है। उदाहरणार्थ गणे -शोत्सव के लिए गठित समिति गणेशोत्सव समाप्त हो जाने के बाद भंग हो जाती है।

6. **विचार-पूर्वक स्थापना** समिति की स्थापना मानवीय प्रयत्नों के कारण होती है। -व्यक्तियों का समूह पहले यह परामर्श करता है कि समिति उनके लिए कितनी लाभप्रद होगी। यह विचार विमर्श करने के पश्चात ही समिति की स्थापना की जाती है।

7. **नियमों पर आधारित -** प्रत्येक समिति की प्रकृति अलग होती है। इसी कारण समितियों के नियम भी अलगअलग होते है-ं। उद्देश्यों को पाने के लिए व सदस्यों के व्यवहार में अनुरूपता लाने के लिए कतिपय निश्चित नियम आवश्यक है। नियमों के अभाव में समिति अपने लक्ष्यों की पूर्ति नहीं कर सकती।

8. **मूर्त संगठन -** समिति व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जो कतिपय लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु एकत्र होते है। इस दशा में समिति को मूर्त संगठन के रूप में वर्णित किया जा सकता है। इसको किसी के भी द्वारा देखा जा सकता है।

9. **समिति साधन है, साध्य नहीं** समितियों का निर्माण -उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाता है यदि हम पढने के शौकीन हैं, तो वाचनालय की सदस्यता ग्रहण कर लेते हैं। इससे हमें इच्छानुसार पुस्तकें मिलती रहती हैं। इसमें वाचनालय पुस्तकें प्राप्त करने का साधन है, साध्य नहीं, और यही समिति है। अतः हम कह सकते हैं समिति साधन है, साध्य नहीं।

5.5 समितियों के प्रकार

समिति की संरचना के आधार पर समितियों को दो भागों में बांटा जा सकता है

औपचारिक समितियां एवं अनौपचारिक समितियां

अ - औपचारिक समितियां - औपचारिक समिति का आदर्श रूप वही है जो समिति की विभिन्न परिभाषाओं में दिखाया गया है। किसी विशिष्ट हित या हितों की प्राप्ति के लिए जब दो या दो से अधिक व्यक्ति एक औपचारिक एवं स्पष्ट कार्यपद्धति के अनुसार संगठित होते हैं तो उसे औपचारिक समिति कहा जाता है। ऐसी समितियों में संपूर्ण कार्य को निश्चित भागों में तार्किक आधार पर बांट दिया जाता है । और उसी के अनुरूप प्रत्येक कार्य के लिए निश्चित पदों का सृजन किया जाता है। प्रत्येक पद के अधिकार और कर्तव्य सुपरिभाषित होते हैं। औपचारिक नियमों के आधार पर प्रत्येक पद के लिए उपयुक्त योग्यता का व्यक्ति चयन द्वारा नियुक्त किया जाता है। उसका वेतनक्रम, उन्नति का प्रावधान प्रशिक्षण आदि सभी सेवा संबंधी नियम स्पष्ट होते हैं। इसी भांति निरीक्षण एवं नियंत्रण के नियम भी पूर्व निर्धारित होते हैं।

इस भांति, औपचारिक समिति के प्रमुख लक्षण इस प्रकार हैं-

1 विशिष्ट नाम

2 सुघोषित उद्देश्य

3 स्पष्ट नेतृत्व

4 औपचारिक संविधान

5 निरीक्षण एवं नियंत्रण की व्यवस्था पुरस्कार एवं दंड द्वारा

6 कार्य क्षेत्र की परिधि तथा

7 विशिष्ट चिन्ह यदि कोई हो तो।

ब- अनौपचारिक समितियां - अनौपचारिक समितियां उपर से ही परस्पर दो विरोधी शब्द लगते हैं क्योंकि अधिकांशतः समिति की परिभाषा औपचारिक नियमों की विद्यमानता के आधार पर ही की जाती है। परंतु यदि हम सतह से नीचे गहराई में देखें तो यह एक यथार्थ है कि अनेक समितियां अनौपचारिक रूप से विकसित होती है और कार्य करती है। इसके सदस्य विशिष्ट हितों के लिए मिलजुलकर कार्य करने के लिए प्रेरित होते हैं। औपचारिक रूप से चयन न होने पर भी उसमें स्पष्ट नेतृत्व उभरकर सामने आ जाता हैं। और उसकी प्रभाविता भी साफ दिखाई देती है। ऐसे समितियों के सदस्य भी अपने व्यवहार के आदर्श एवं नियम विकसित कर लेते हैं। जो परस्पर सहमति के परिणाम होते हैं। ये नियम अथवा आचरण के प्रतिमान, चाहे लिखित या औपचारिक न हों, परंतु उनके प्रति सदस्यों में उच्च स्तर की प्रतिबद्धता पाई जाती है। अनौपचारिकता के आधार पर नीचे दो अनौपचारिक समितियों मित्र मंडली एवं परिवार के उदाहरण दिए जा रहे हैं।

मित्र मंडली भी एक विशेष प्रकार की समिति है। संबंधी आवश्यताओं की सहज पूर्ति व स्नेहमय सहयोग के लिए पारस्परिक आकर्षण के आधार पर इस मित्र मंडली का निर्माण होता है। यद्यपि यह सही है कि उनमें आपस में कोई लिखित विधान लागू नहीं होता, परंतु मित्रों के आचरण भी कुछ आदर्श होते हैं। मित्रों से आशा की जाती है कि वे एक दूसरे से कुछ छुपाएंगे नहीं ,एक दूसरे के परिवार को अपने परिवार के समान मानेंगे। आवश्यकता पड़ने पर यथा संभव एक दूसरे की सहायता करेंगे। विपदा के समय यह सहायता सामान्य सीमाओं से भी परे हो सकती है। धीरे धीरे उस मित्र मंडली के बीच मे-ं भी कोई एक निर्णायक के पद पर पहुंच जाता है। जिसके सुझावों व निर्देशों पर सभी को विश्वास है और जो मित्र मंडली का नायक बन जाता है। इन उपर्युक्त अलिखित आर्दशों का उल्लंघन करने वाला ऐसी मित्र मंडली से या तो खुद ही बाहर हो जाता है या बाहर कर दिया जाता है।

इस भांति, अनौपचारिक समिति के प्रमुख लक्षण निम्नलिखित हैं-

1 समान हित,

2 पारस्परिक परिचय एवं संपर्क,

3 कार्यप्रणाली की सहजता एवं सरलता,

4 वैयक्तिक संबंध,

5 अनौपचारिक नियमावली, तथा

6 सहमति के आधार पर स्वतः विकसित सहज नेतृत्व।

5.6 सारांश

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि पारस्परिक सहायता तथा सहयोग के आधार पर मिलजुल कर लक्ष्यों को पूरा करने वाले समूह या संगठन को हम समिति कह सकते हैं। जब कुछ लोग मिलकर अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए सहयोग के आधार पर किसी संगठन का निर्माण करते हैं तब इसी संगठन को हम समिति कहते हैं

5.7 अभ्यास प्रश्न

1. मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है- सत्य असत्य/

.....

.....

2. अनौपचारिक समितियां किसे कहते है तीन पं?क्तियों में उत्तर दीजिए ?

.....

.....

.....

.....

अभ्यास प्रशनों के उत्तर

1. सत्य

2. उत्तर के लिए देखिए इकाई का 16.5 भाग

5.8 पारिभाषिक शब्दावली

समिति - सहायता तथा सहयोग के आधार पर मिलजुल कर लक्ष्यों को पूरा करने वाले समूह या संगठन को हम समिति कह सकते हैं ।

औपचारिक समितियां -जब दो या दो से अधिक व्यक्ति एक औपचारिक एवं स्पष्ट कार्यपद्धतिके अनुसार संगठित होते हैं तो उसे औपचारिक समिति कहा जाता है ।

5.9 संदर्भ

1. गिडेंस, एंथोनी, सोशियोलॉजी, चतुर्थ संस्करण, पोलिटी, यू.के., 2001.

2. हेरालांबोस एवं होलबोर्न, सोशियोलॉजीः थीम्स एंड पर्सपेक्टिव, पंचम संस्करण, कोलिंस, लंदन, 2000.

3. रावत, एच.के., सोशियोलॉजी बेसिक कंसेप्ट, रावत, जयपुर, 2007

4. अग्रवाल ,जी ,. के.एस बी पी डी पब्लिकेशंस, आगरा 2009

5.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. अनौपचारिक समितियां व औपचारिक समिति के बीच अंतर स्पष्ट किजिए ?

इकाई-6 संस्थाएं : अर्थ, विशेषताऐं एवं प्रकार- विवाह, परिवार एवं धर्म

(Institutions : Meaning, characteristics & types- Marriage, Family and Religion)

इकाई की रूपरेखा

60. परिचय

6 1. उद्देश्य

62. विवाह का अर्थ एवं परिभाषाएं

6 .3. विवाह का उद्देश्य

64. विवाह के प्रकार

17.4.1 एक विवाह

17.4.2 बहु विवाह

65. विवाह की उत्पत्ति केसिद्धांत

66. विवाह से सबंधित नियम

67. विवाह के अन्य स्वरूप

17.7.1 हिंदू विवाह

17.7.2 मुस्लिमविवाह

17.7.3 ईसाई विवाह

68. परिवार की अवधरणा एवं परिभाषाए

69. परिवार की विशेषताए

61.0 परिवार के प्रकार

61.1 परिवार के प्रकार्य

61.2 परिवार के महत्वपूर्ण स्वरूप

61.3 धर्म का अर्थ

61.4 धर्म की विशेषताएं

61.5 धर्म के सिद्धांत

17.151. मार्क्स काधर्म का सिद्धांत

17.152. मैक्सवेबर का सिद्धांत

61.6 सारांश

61.7 अभ्यास प्रश्न

61.8 पारिभाषिक शब्दावली

6.19 संदर्भ ग्रंथ सूची

6.0 परिचय

इस इकाई में हम विवाह, परिवार एवं धर्म का विस्तार से अध्ययन करेंगे। विवाह से तात्पर्य है जब दो विषमलिंगियों को समाज द्वारा सामाजिक मान्यता प्राप्त हो जाती है बच्चे पैदा करने की उसे विवाह कहा जाता है। परिवार एवं विवाह समाज की वो सामाजिक संस्थाएं हैं जो समाज को पोषण एवं आगे बढ़ाती हैं। विवाह के अनेक रूप होते हैं जैसेः एक विवाह, बहुविवाह आदि। विवाह के रूप जैसे अंतर्विवाह यानि किसी व्यक्ति का अपनी जाति, प्रवर या समूह में ही विवाह होता है उसे अंतर्विवाह कहते हैं । इसके विपरीत बहिर्विवाही से तात्पर्य किसी व्यक्ति का अपने गोत्र या गांव के बाहर विवाह होता है उसे बहिर्विवाही कहते हैं। तथा सभी धर्मो में विवाह के अपनेअपने नियम- हैं एवं प्रकार हैं। विवाह से ही परिवार की उत्पत्ति होती है । यह समाज एवं एक व्यक्ति के लिए पोषण का कार्य करता है । विश्व के प्रत्येक समाज में परिवार रूपी संस्था पाई जाती है। वो किसी भी रूप में हो। परिवार की उत्पत्ति से संबंधित विभिन्न सिद्धांत हैं, जो परिवार के विकास को बताते हैं।

परिवार के विभिन्न प्रकार हैं जैसेएकल परिवार-, संयुक्त परिवार, विस्तृत परिवार इत्यादि । परिवार का महत्वपूर्ण प्रकार्य समाज में व्यक्तियों का लालनपालन एवं समाजीकरण करना है। इस इकाई में तीसरा - तथ्यधर्म है धर्म की उत्पत्ति भय से हुई है अर्थात जिससे मानव डरता है। उसकी पूजा करने लगता है । धर्म के अपने सिद्धांत हैं। मार्क्स का सिद्धांत, मैक्स वेबर का सिद्धांत ।

6.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप-

- विवाह का अर्थ एवं परिभाषाओं को जान सकेंगे।
- विवाह का उद्देश्य एवं विवाह के प्रकारों के बारे में जान सकेंगे।
- विवाह की उत्पत्ति के सिद्धांतों व नियमों को जान सकेंगे।
- हिंदू विवाह के संबंध में जान सकेंगे।
- मुस्लिम विवाह के संबंध में जान सकेंगे।
- इसाई विवाह के बारे में जान सकेंगे।
- परिवार की अवधारणा, परिभाषाएं, एवं विशेषताओं को जान सकेंगे।
- परिवारों की उत्पत्ति से संबंधित सिद्धांतों को जान सकेंगे।
- परिवार के प्रकार्यों को जान सकेंगे।
- परिवारों के प्रकारों या स्वरूपों को जान सकेंगे।
- धर्म का अर्थ एवं विशेषताओं को जान सकेंगे।
- धर्म के सिद्धांतों को जान सकेंगे।

6.2 विवाह का अर्थ एवं परिभाषाएं

विद्वानों की ऐसी मान्यता है कि व्यक्ति की यौन संबंधी आवश्यकता ने विवाह नामक संस्था को जन्म दिया तथा विवाह ने परिवार और नातेदारी को । इस प्रकार विवाह द्वारा यौन आवश्यकता की पूर्ति को सामाजिक मान्यता प्राप्त होती है। विवाह एक सार्वभौमिक संस्था है जो प्रायः सभी समाजों में पाई जाती है, अंतर सिर्फ इसके स्वरूप को लेकर है। किसीकिसी समाज में विवाह यौन संतुष्टि के लि-ए नहीं किया जाता बल्कि संपत्ति के बंटवारे को रोकने के लिए भी किया जाता है । उदाहरण के लिए नगा जनजाति में पुत्र द्वारा सगी मां को छोड़कर पिता की अन्य विधवा पत्नियों से विवाह।

- लूसीमेयर के अनुसार, 'विवाह स्त्री पुरूष का ऐसा योग है जिससे जन्मा बच्चा मातापिता की वैध - संतान माना जाता है।'

- बोगार्डस के अनुसार, 'विवाह स्त्री पुरूष का पारिवारिक जीवन में प्रवेश करने की संस्था है।'
- मजूमदार एवं मदन के अनुसार, 'विवाह संस्था में कानूनी या धार्मिक आयोजन के रूप में उन सामाजिक स्वीकृतियों का समावेश होता है जो विषम लिंगियों की यौन क्रिया और उससे संबंधित सामाजिक, आर्थिक संबंध में सम्मिलित होने का अधिकार प्रदान करती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि विवाह समाज द्वारा स्वीकृत एक सामाजिक संस्था है। यह दो विषम लिंगी व्यक्तियों को यौन संबंध स्थापित करने के अधिकार प्रदान करती है। विवाह संबंध बहुत ही व्यापक होते हैं। इनमें एकदूसरे के प्रति भावात्मक लगाव-, देखभाल, सहायता व एक दूसरे को-निरंतर एक दूसरे को सहारा देना सम्मिलित है। विवाह के पश्चात उत्पन्न संतान को ही वैध माना जाता है।

6.3 विवाह का उद्देश्य

मुर्डाक ने विश्व के -समाजों के अध्ययनोपरांत विवाह के तीन उद्देश्यों का उल्लेख किया 250

- यौन संतुष्टि
- आर्थिक सहयोग
- संतानों का समाजीकरण एवं लालनपालन-

6.4 विवाह के प्रकार

विभिन्न समाजों में पाए जाने वाले विवाह के स्वरूपों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है-

17.4.1 एक विवाह

एक विवाह में एक समय में एक पुरूष एक ही स्त्री से विवाह करता है। वर्तमान में एक विवाह को विवाह का सर्वश्रेष्ठ रूप समझा जाता है। वेस्टमार्क ने 'एक विवाह को ही विवाह का आदि स्वरूप माना है।'

एक विवाह दो प्रकार का होता हैः-

क्रमिक एक विवाहइस प्रकार के विवाह में एक समय में एक से ही संबंध होता है पर -ःंतु वह किसी एक को छोड़कर या मृत्यु के बाद दूसरे से विवाह कर लेता है।

एकल विवाहःष सेएकल परिवार में केवल एक स्त्री का विवाह एक ही पुरू - होता है। किसी एक की मृत्यु के बाद भी वह दूसरा विवाह नहीं करते।

6 4.2.बहु विवाह

जब एकाधिक पुरूष अथवा स्त्रियां विवाह बंधन में बंधते हैं तो ऐसे विवाह को बहु-विवाह कहते हैं। बहु-विवाह के प्रमुख चार रूप पाए जाते हैं।

(क)बहुपति विवाह एक - स्त्री का कई पतियों के साथ विवाह बहुपति विवाह कहलाता है। बहुपति विवाह के भी दो रूप पाए जाते हैं।

(i) **भ्रातृक बहुपति विवाह (Fraternal Polyandry)**इस प्रकार के विवाह में पति आपस में भाई होते - खस -हैं उदाहरणस्वरूप, टोडा एवं कोटा जनजाति।

)2(**अभ्रातृक बहुपति विवाह (Non Fraternal Polyandry)**इस प्रकार विवाह में पति आपस में भाई - -नहीं होते हैं जैसे नाया।

वेस्टमार्क के अनुसार लिंग अनुपात का असंतुलित होना ही बहुपति विवाह का कारण है। समनर कनिंघम एवं डॉ. सक्सेना बहुपति विवाह के लिए गरीबी को मुख्य कारण मानते हैं।

(ख) **बहुपत्नी विवाह (Polygamy)**ऐसा विवाह जिसमें एक पुरूष एका -धिक स्त्रियों से विवाह करता है। उदाहरणस्वरूप -नगा, गोंड, बैगा, भील, टोडा, लुशाई, नंबूदिरी ब्राह्मण में ऐसा विवाह पाया जाता है। यह भी विभिन्न प्रकार के होते हैं।

(1) **द्वि पत्नी विवाह-(Biogamy)** इस प्रकार के विवाह में एक पुरूष एक साथ दो -स्त्रियों से विवाह करता है। कई बार पहली स्त्री के संतान न होने पर दूसरा विवाह कर लिया जाता है जैसेआरगेन व - एस्किमो जनजातियों में यह प्रथा प्रचलित है।

)2(**समूह विवाह (Group Marriage)** समूह विवाह में पुरूषों का ए -क समूह स्त्रियों के एक समूह से विवाह करता है और समूह कपल में प्रत्येक पुरूष समूह की प्रत्येक स्त्री का पति होता है। विवाह की प्रारंभिक अवस्था में यह स्थिति रही होगी, ऐसी उद्विकासवादियों की धारणा है।

6.5 विवाह की उत्पत्ति के सिद्धांत

मैकाइवर का कहना है कि उत्पत्तियां सदैव अस्पष्ट होती हैं। इसके बारे में सिर्फ अनुमान या कल्पना ही की जा सकती है। विवाह की उत्पत्ति के संबंध में निम्न विचार प्रचलित हैं-

मार्गन का उद्विकासीय सिद्धांत -

मार्गन का मत है कि विवाह संस्था का विकास हुआ है। समाज की प्रारंभिक अवस्था में विवाह नामक संस्था का अभाव था। प्रारंभ में समाज में यौन साम्यवाद की स्थिति थी। पुरूष को किसी भी स्त्री से यौन संबंध स्थापित करने की स्वतंत्रता थी। धीरेधीरे मानव समाज के विकास के साथ ही विवाह संस्था का - क्रमिक विकास हुआ है जिसकी मुख्य निम्न अवस्थाएं हैं ।

- समूह विवाह
- सिंडेस्मियन विवाह
- व्यवस्थित विवाह

बैकोफन ने विवाह की उत्पत्ति की तीन अवस्थाओं का उल्लेख किया है-

- बहुपति विवाह
- बहुपत्नी विवाह
- एक विवाह

वेस्टमार्क का सिद्धांत -

वेस्टमार्क का कहना है कि मनुष्य पशु से भिन्न होता है। मनुष्य में अपनत्व एवं ईर्ष्या की भावना पाई जाती है इसलिए जिसके साथ वह एक बार यौन संबंध स्थापित कर लेता था तो उसको अपना मानता था। इसलिए एक विवाह मानव समाज में विवाह का स्थायी रूप था और है। बहुपति या बहुपत्नी विवाह तो केवल वैवाहिक आदर्श का उल्लंघन मात्र है।

6.6 विवाह से संबंधित नियम

प्रत्येक समाज में विवाह से संबंधित कुछ नियम पाए जाते हैं। जीवन साथी के चुनाव के दौरान तीन बातों का ध्यान रखा जाता है-

(1) चुनाव का क्षेत्र

(2) चुनाव का पक्ष

(3) चुनाव की कसौटियां

हिंदू विवाह से संबंधित नियमों को हम चार भागों में बांट सकते हैं-

(1) **अंतर्विवाह (Endogamy)**अंतर्विवाह का तात्पर्य है - एक व्यक्ति अपने जीवन साथी का चुनाव अपने ही समूह से करे। यह समूह अलगअलग हो सकता है। डॉ-अलग लोगों के लिए अलग-. रिवर्स के अनुसार , 'अंतर्विवाह से अभिप्राय उस विनिमय से है जिसमें समूह में ही विवाह साथी चुनना अनिवार्य होता है ।'

(2) **बहिर्विवाह (Exogamy)** बहिर्विवाह से तात्पर्य है एक -व्यक्ति जिस समूह का सदस्य है उससे बाहर विवाह करे। डॉ. रिवर्स के शब्दों में, 'बहिर्विवाह से बोध होता है कि वह दूसरे सामाजिक समूह से अपना जीवनसाथी ढू-ंढे।'

हिंदूओं में प्रचलित बहिर्विवाह के स्परूप निम्न हैं-

(क) **गोत्र बहिर्विवाहः** -हिंदूओं में सगोत्र विवाह निषेध है। गोत्र का सामान्य अर्थ उन व्यक्तियों के समूह से है जिनकी उत्पत्ति एक ऋषि पूर्वज से हुई है। गोत्र शब्द के तीन या चार अर्थ हैं जैसेगौशाला -, गाय का समूह, किला तथा पर्वत आदि। इस प्रकार एक घेरे में या स्थान पर रहने वाले लोगों में परस्पर विवाह वर्जित था। गोत्र का शाब्दिक अर्थ गो□त्र अर्थात् गायों के बांधने का स्थान। जिन लोगों की गायें एक स्थान पर बंधती थीं, उनमें नैतिक संबंध बन जाते थे और संभवतः वे रक्त संबंधी भी होते थे। अतः वे परस्पर विवाह नहीं करते। हिंदू विवाह अधिनियम 1955 द्वारा वर्तमान में सगोत्र बहिर्विवाह से प्रतिबंध हटा दिया गया है, किंतु व्यवहारों में आज भी इसका प्रचलन है।

)ख(**सप्रवर बहिर्विवाह) Sapravar Exogamy)** समान पूर्वज एवं समान -ऋषियों के नामों का उच्चारण करने वाले व्यक्ति अपने को एक ही प्रवर संबद्ध मानते हैं। एक प्रवर में विश्वास करने वाले विवाह नहीं करते। हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 द्वारा सप्रवार विवाह संबंधी निषेधों को समाप्त कर दिया गया है।

(ग) **सपिंड बहिर्विवाह (Spinal Exogamy)** इरावती कर्वे सपिंडता का अर्थ बताती हैं- जैसे स□पिंड अर्थात् मृत व्यक्ति को पिंडदान देने वाले या उसके रक्तकरण से संबंधित लोग। मिताक्षरा के अनुसार वे सभी जो एक ही शरीर से पैदा हुए हैं सपिंडी हैं। वसिष्ठ ने पिता की ओर से सात व माता की ओर पांच, गौतम ने पिता की ओर से आठ व माता की ओर से छह पीढ़ियों तक के लोगों से विवाह करने पर प्रतिबंध लगाया है।

हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 ने सपिंड बहिर्विवाह को मान्यता प्रदान की है। माता एवं पिता दोनों पक्षों से तीनतीन पीढ़ियों के सपि-ंडियों में परस्पर विवाह पर रोक लगा दी गई है। फिर भी यदि किसी समूह की प्रथा अथवा परंपरा इसे निषेध नहीं मानती है तो ऐसा विवाह भी वैध माना जाएगा।

)घ(**ग्राम बहिर्विवाह**)Village Exogamy) -ग्राम बहिर्विवाह की प्रथा भी काफी प्राचीन है। पंजाब एवं दिल्ली में उस गांव में भी विवाह वर्जित है जिसकी सीमा व्यक्ति के गाव से मिलती है।

)ड(**टोटम बहिर्विवाह** (Totem Exogamy)इस प्रकार का नियम जनजातियों में प्रचलित है। टोटम कोई - भी एक पशु, पक्षी, पेड़, पौध अथवा निर्जीव वस्तु हो सकती है जिसे एक गोत्र के लोग आदर की दृष्टि से देखते हैं, उससे आध्यात्मिक संबंध जोड़ते हैं। टोटम पर विश्वास करने वाले लोग परस्पर भाईबहिन - समझे जाते हैं, अतः वे परस्पर विवाह नहीं करते।

)3(**अनुलोम विवाह** (Anuloma or Hypergamy)जब एक उच्च वर्ण -, जाति, उपजाति, कुल एवं गोत्र के लड़के का विवाह ऐसी लड़की से किया जाए जिसका वर्ण, जाति, उपजाति, कुल एवं गोत्र लड़के से नीचा हो तो ऐसे विवाह ही अनुलोम विवाह कहते हैं। अन्य शब्दों में, इस प्रकार के विवाह में लड़का उच्च सामाजिक समूह का होता है और लड़की निम्न सामाजिक समूह की।

)4 (**प्रतिलोम विवाह** (Pratiloma or Hypogamy)इस प्रकार के विवाह में लड़की उच्च वर्ण -, जाति तथा उपजाति या कुल की होती है जबकि लड़का निम्न वर्ण, जाति, उपजाति या कुल का होता है। कपाड़िया के शब्दों में, 'निम्न वर्ण के व्यक्ति का उच्च वर्ण की स्त्री के साथ विवाह प्रतिलोम विवाह कहलाता है।' प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न होने वाली संतान की कोई जाति नहीं होती है। हिंदू शास्त्रों ने इस प्रकार के विवाह को निषिध ही नहीं माना है बल्कि इसका विरोध भी किया है। ध्यातव्य है कि हिंदू विवाह वैधता अधिनियम, 1949 एवं हिंदू विवाह अधिनियम 1955 के द्वारा अनुलोम व प्रतिलोम विवाह दोनों को ही वैध माना गया है।

6.7 विवाह के अन्य स्वरूपः-

(1) **द्वि**आधुनिक समाज में ऐसे विवाह का रूप देखने को मिल रहा है जिसमें - **जीवन वृत्ति विवाह**- -पतिपत्नी दोनों नौकरी या व्यवसाय करते हैं। पश्चिमी समाजों में ऐसे विवाह अधिकांतः देखने को मिलते हैं। भारत में भी ऐसे विवाह अधिकांशतः देखने को मिलने लगे हैं। इस प्रकार के विवाह में स्त्री को घर व बाहर दोनों के कार्यों को निपटाना पड़ता जिससे वे भूमिका संघर्ष का शिकार होती हैं।

(2) **समलैंगिक विवाह**तथा विवादग्रस्त है जिसमें इस प्रकार का विवाह आजकल चर्चा का विषय है - दो समलिंगियों अर्थात् पुरूषस्त्री के बीच विवाह होता है। आजकल ऐसे विवाह का प्रचलन -पुरूष या स्त्री- बढ़ने लगा है। कुछ जनजातियों विशेषकर चाइना, इंडियनों और अजेंडे सूडान में पुरूषपुरूष के बीच विवाह - सामान्य बात है। चाइना इंडियनों में इन्हें द्वितीय पत्नी कहा जाता है।

(3) **मार्गेनेटिक विवाह**जब उच्च वर्ग का पुरूष अपने से दो निम्न प्रस्थिति अथवा हीन वर्ग की स्त्री - से विवाह करता है, मार्गेनिटिक विवाह कहलाता है। इससे उत्पन्न संतान वैध तो होती है, लेकिन पत्नी व बच्चे को पुरूष की संपत्ति एवं पद से वंचित रखा जाता है। भारत में ऐसे विवाह को वर्जित किया गया है।

6 7.1.हिंदू विवाह

पश्चिमी समाजों से भिन्न हिंदू समाज में विवाह को एक धार्मिक संस्कार माना जाता है। विवाह के पश्चात् ही कोई हिंदू धार्मिक क्रियाओं को करने का अधिकारी होता है। इसलिए हिंदू विवाह का मुख्य उद्देश्य धार्मिक है। अतः एक हिंदू के जीवन में विवाह अत्यावश्यक माना गया है।

पी.एन.प्रभु का कहना है कि 'हिंदू विवाह एक संस्कार है'.के – एम. कपाड़िया भी कहते हैं कि 'हिंदू विवाह एक धार्मिक संस्कार है। यह पवित्र समझा जाता है क्योंकि यह तभी पूर्ण होता है जब यह पवित्र मंत्रों के साथ किया जाए।'

हिंदू विवाह के उद्देश्यः.पी-एन.प्रभु तथा के.एम. कपाड़िया ने हिंदू विवाह के उद्देश्यों के तीन बिंदुओं का उल्लेख किया है -धर्म , प्रजा, पुत्र प्राप्ति तथा रति)यौन संतुष्टि (। हिंदू विवाह के स्वरूप या प्रकारः-

मनु के अनुसार विवाह के आठ स्वरूप हैं जिनमें चार ;ब्रह्म, दैव, आर्ष, प्रजापत्य, उच्चकोटि के जबकि चार)असुर, गांधर्व, राक्षस व पैशाच(विवाह निम्न कोटि के माने जाते हैं। प्रथम चार विवाहों को प्रशस्ति)श्रेष्ठ(एवं धर्मानुसार व बाद के चार विवाहों को अप्रशस्ति)निकृष्ट कोटि के(विवाह की श्रेणी में रखा गया है। हिंदू विवाह के स्वरूप निम्नलिखित हैं-

1. **ब्रह्म विवाहः**सु -ंदर व गुणवान वर को अपने घर बुलाकर वस्त्र आदि देकर कन्यादान करना ही ब्रह्म विवाह है। इस विवाह से उत्पन्न पुत्र इक्कीस पीढ़ियों को पवित्र करने वाला होता है। वर्तमान समय में प्रचलित विवाह ब्रह्म विवाह का ही स्वरूप है।

2. **दैव विवाहः**- यह एक प्रतीकात्मक विवाह है जिसमें यज्ञ कराने वाले पुरोहित को कन्यादान दिया जाता है। ऐसा माना जाता है कि ऐसे विवाह देवताओं के साथ होता है। इससे देवदासी प्रथा का जन्म हुआ जो वेश्यावृत्ति का कारण माना जाता है। अतः इसका विरोध किया जाने लगा है।

3. **आर्ष विवाहः** आर्ष से तात्पर्य -ऋषि से है। जब विवाह के लिए इच्छुक ऋषि द्वारा कन्या के पिता को एक जोड़ी बैल और एक गाय दी जाती है। तब विवाह संपन्न होता है यह वधू मूल्य नहीं है बल्कि पिता को इस बात का आश्वासन है कि वह जिसे अपनी पुत्री सौंप रहा है, वह उसका उचित निर्वाहन का सकेगा।

4. **प्रजापत्य विवाहः**यह ब्र -ह्म विवाह के ही समान है लेकिन इसमें कन्या के पिता द्वारा वर बधू को आशीर्वाद देते हुए इस वाक्य का उच्चारण किया जाता है -'तुम दोनों एक साथ मिलकर आजीवन धर्म का आचरण करो।'

5. **असुर विवाहः** यह एक निम्न कोटि का विवाह माना जाता है -जिसमें कन्या का पिता कन्या का मूल्य लेकर विवाह करता है। इसे सामान्यतः बेटी बेचवा कहकर समाज में आलोचना की जाती है।

6. **गांधर्व विवाहः** आजकल नई पीढ़ी में देखने को मिलता यह प्रेम विवाह है जो -है।

7. **राक्षस विवाहः** -युद्ध में स्त्री का हरण करके जब उससे विवाह किया जाता है तो वह राक्षस विवाह कहलाता था। चूंकि यहां इससे प्रत्यक्ष संपर्क क्षत्रियों का था इस कारण इस प्रकार का विवाह विशेष रूप से क्षत्रियों के लिए था। इसलिए इसे 'क्षत्रिय विवाह' भी कहते हैं।

8. **पैशाच विवाहः** मनु कहते हैं कि -'सोयी हुई ,उन्मत्त, घबराई हुई, मदिरापन की हुई अथवा राह में जाती हुई लड़की के साथ बलपूर्वक कुकृत्य करने के बाद उससे विवाह करना पैशाच विवाह है' यह विवाह सभी विवाहों में निम्नकोटि का विवाह है।

विवाह के परंपरागत स्वरूपों में आज केवल तीन प्रकार के विवाहों का ही प्रचलन है। ये हैंब्र -ह्म विवाह, असुर विवाह तथा गांधर्व विवाह। ब्रह्म विवाह का प्रचलन सर्वाधिक है जबकि गांधर्व विवाह का उससे कम।

6 7.2.मुस्लिम विवाह

हिंदुओं के विपरीत मुस्लिमों में विवाह को एक संविदा (Contract)माना जाता है तथा 'कुरान' इसका मुख्य स्त्रोत है। सामान्यतः मुस्लिमों में विवाह के लिए 'निकाह' शब्द का प्रयोग किया जाता है जिसका शाब्दिक अर्थ 'लिंगों का मेल' (Union of sexes)है। इस्लामी वैधानिक मान्यताओं के अनुसार निकाह एक कानूनी संविदा है जिसका लक्ष्य पतिपत्नी के यौन संबं-धों तथा उनकी संतान के संबंधों व उनके पारस्परिक अधिकारों तथा कर्त्तव्यों को वैधता प्रदान करना है।

डी.एफ.मुल्ला (Principle of Muslim Law)के अनुसार -, 'निकाह को एक संविदा रूप में परिभाषित किया जाता है जिसका उद्देश्य संतानोत्पत्ति और संतान को वैधता प्रदान करना है।'

मुस्लिम विवाह की संविदात्मक प्रकृति स्पष्ट होती है। मुस्लिम विवाह मुख्यतः एक समझौता है जिसका उद्देश्य यौनिक संबंधों और बच्चों के प्रजनन को कानूनी रूप देना है तथा समाज के हित में पतिपत्नी -

और उनसे उत्पन्न संतानों के अधिकारों व कर्त्तव्यों को निर्धारित करके सामाजिक जीवन का नियमन करना है। संविदा में सामान्यतः तीन विशेषताएं पायी जाती हैं-

(1) दोनों पक्षों की स्वतंत्र सहमति

(2) स्वीकृति के रूप में कुछ न कुछ पेशगी

(3) ये दोनो पक्ष निषेध संबंधों के अन्तर्गत न आते हों

मुस्लिम विवाह में ये तीनों बातें आ जाती है।

मुस्लिम विवाह की शर्तें -

मुस्लिम विवाह की कुछ प्रमुख शर्तें हैं-

- सही मस्तिष्क का व्यक्ति जिसकी उम्र 15 वर्ष से कम न हो। संरक्षक की देखरेख में नाबालिक विवाह भी हो सकता है।
- निकाह के लिए दोनों पक्ष स्वतंत्र हों।
- काजी के सामने निकाह का कबूलनामा इकरार होता है।
- निकाह में दो गवाहों का होना आवश्यक है। गवाहों के मामले में दो स्त्रियां एक पुरूष के बराबर मानी गई हैं।
- विवाह के प्रतिफल के रूप में मेहर की राशि निश्चित कर ली जाती है या भुगतान कर दिया जाता है।
- दोनों पक्ष निषेध संबंधों के अंतर्गत न आते हों।

6 7.3.ईसाई विवाह

हिंदुओं के समान ईसाइयों में भी विवाह को एक पवित्र बंधन माना जाता है। एक पुरूष और एक स्त्री का पवित्र मिलन ही विवाह है। ईसाइयों में विवाह के दो स्वरूप होते हैंध -ार्मिक विवाह तथा सिविल विवाह। धार्मिक विवाह में चर्च व पादरी की भूमिका प्रमुख होती है लेकिन अदालत से विवाह संपंन्न होने के पश्चात भी पादरी का आशीर्वाद प्राप्त किया जाता है। 1872 के भारतीय ईसाइ विवाह अधिनियम के अनुसार, विवाह के लिए लड़के, लड़कियों की न्यूनतम आयु क्रमशः 16 वर्ष और 13 वर्ष होनी चाहिए ईसाइयों में अधिकांश विवाह धार्मिक विवाह ही होते हैं, जो गिरजाघर में संपन्न किये जाते हैं।

ईसाई विवाह के मुख्य उद्देश्यः-ईसाई विवाह के दो मुख्य उद्देश्य हैं -

(1) यौन इच्छा की संतुष्टि

(2) संतानोत्पत्ति

ईसाइयों में विवाहईसाइयों में विव - **विच्छेद**-ाह विच्छेद को अच्छा नहीं माना जाता। फिर भी ईसाइयों में तलाक) विवाह (विच्छेद-'भारतीय विवाह विच्छेद अधिनियम , 1869' (The Indian Divorce Act, 1869) द्वारा होता है। इस नियम का लाभ प्राप्त करने के लिए किसी एक पक्ष अर्थात् वर या वधू का ईसाई होना आवश्यक है। इस अधिनियम के अनुसार विवाह-विच्छेद की निम्न शर्तें हैं-

- पति ने ईसाई धर्म छोड़कर अन्य स्त्री के साथ विवाह कर लिया है।
- पति ने दूसरा विवाह कर लिया है।
- पति ने बलात्कार या सौदेबाजी या पशुओं के साथ मैथुन किया हो।

6.8 परिवार की अवधरणा एवं परिभाषाएं

परिवार सामाजिक व्यवस्था का महत्वपूर्ण आधर स्तंभ है, जिसका व्यक्ति के जीवन में प्राथमिक महत्व है । परिवार सामाजिक संगठन की एक सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक निर्माणक इकाई है। परिवार के द्वारा ही सामाजिक संबंधों का निर्माण होता है जो समाजशास्त्र की मूल विषय वस्तु है। मानव में सदैव जीवित रहने की इच्छा होती है जिसे परिवार द्वारा वह पूरा करता है मैलिनोवस्की (Sex and Repression in savage society) कहते हैं कि 'परिवार ही एक ऐसा समूह है जिसे मनुष्य पशु अवस्था से अपने साथ लाया है।'

एल्मर अपनी पुस्तक Sociology of Family में लिखते हैं कि 'Family' शब्द का उदगम लैटिन शब्द 'Famulus' से हुआ है जो एक ऐसे समूह के लिए प्रयुक्त हुआ है जिसमें मातापिता-, बच्चे, नौकर व दास हों।'

परिवार एक ऐसी संस्था है जिसकी परिभाषा ऐसी नहीं दी जा सकती है जो सभी देश, कालों के परिवारों के लिए सही हो। इसका मुख्य कारण यह है कि परिवार के रूप एक संस्कृति से दूसरी संस्कृति में बदलते रहते हैं। कहीं पर एक विवाह प्रथा मान्य है तो कहीं पर बहु विवाह। एक विवाह और बहु विवाह का प्रभाव परिवार पर पड़ता है। इन्हीं सब बातों को दृष्टि में रखते हुए डनलप महोदय ने कहा कि परिवार की कोई सार्वभौमिक परिभाषा नहीं दी जा सकती है।

परिवार को साधारणतया एक ऐसे समूह के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसमें पति, पत्नी और उनके बच्चे पाए जाते हैं तथा जिसमें इन बच्चों की देख पत्नी के-रेख तथा पति-अधिकार व कर्त्तव्यों का समावेश होता है।

(1) **मैकाइवर व पेज** -'परिवार निश्चित यौन संबंध द्वारा परिभाषित एक ऐसा समूह है जो बच्चों के जनन एवं लालनपालन की व्यवस्था करता है।-'

(2) **लूसीमेयर के अनुसार**, 'परिवार एक गार्हस्थ समूह है जिसमें मातासाथ -पिता और संतान साथ- रहते हैं। इसके मूल में दंपति और उसकी संतान रहती है।

(3) **किंग्सले डेविस** के अनुसार, 'परिवार ऐसे व्यक्तियों का समूह है जिसमें सगोत्रता के संबंध होते हैं और जो इस प्रकार एकदूसरे के संबंधी होते हैं।-'

(4) **बर्गेस व लॉक** के अनुसार, 'परिवार व्यक्तियों के उस समूह का नाम है जिसमें वे विवाह, रक्त या दत्तक संबंध से संबंधित होकर एक गृहस्थी का निर्माण करते हैं एवं एक दूसरे पर स्त्रीपुरूष-, मातापिता-, पुत्रपुत्री-, भाईबहन इत्यादि के रूप में प्रभाव डालते व अंतःक्रिया करते हुए एक सामान्य संस्कृति का - निर्माण करते हैं।'

ऑगबर्न और निमकॉफ - 'जब हम परिवार के बारे में सोचते हैं तो हमारे समक्ष एक ऐसी कम या अधिक स्थायी समिति का चित्र आता है । जिसमें पति एवं पत्नी अपने बच्चों के साथ या बिना बच्चों के रहते हैं । या एक ऐसे अकेले पुरूष या अकेली स्त्री की कल्पना आती है जो अपने बच्चों के साथ रहते हैं।' परिवार को एक समिति मानते हुए ऑगबर्न और निमकॉफ ने इसे भिन्न लिंग व्यक्तियों के बीच होने वाले समझौते के परिणामस्वरूप संतानोत्पत्ति की सामाजिक वैधता के रूप में स्पष्ट किया है परिवार तब भी परिवार है जब उसमें बच्चे नहीं हैं यह अकेली माता अथवा अकेले पिता के साथ बच्चों सहित भी परिवार ही है।

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि परिवार जैविकीय संबंधों पर आधारित एक सामाजिक समूह है जिसमें मातापिता और उनकी संतानें होती हैं तथा ज-िसका उद्देश्य अपने सदस्यों के लिए भोजन, प्रजनन, यौन संतुष्टि समाजीकरण संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति करना है।

इस प्रकार परिवार के निम्नलिखित पांच तत्वों का उल्लेख किया जा सकता है-

- स्त्रीपुरूष का यौन स-ंबंध (Mating relationship)
- यौन संबंधों को विधिपूर्वक स्वीकार किया जाता है।
- संतानों की वंश व्यवस्था (Reckoning of descent)
- सह निवास (Child & Rearing)

6.9 परिवार की विशेषताएं

- **सार्वभौमिकता** - परिवार एक सार्वभौमिक इकाई है। परिवार हर समाज, हर काल, देश व परिस्थिति में पाए जाते हैं, चाहे इनका स्वरूप कुछ भी हो। समाज का इतिहास ही परिवार का इतिहास रहा है। क्योंकि जब से मानव का जन्म इस धरती पर हुआ है तभी से परिवार रहा है। चाहे पहले उसका स्वरूप भले ही कुछ रहा हो।
- **भावात्मक आधार**परिवार का आध - ार व्यक्ति की वे भावनाएं हैं जिनकी पूर्ति के लिए उसने परिवार का निर्माण किया है, जैसे वात्सल्य, यौन, सहयोग, सहानुभूति इत्यादि।
- **सृजनात्मक प्रभाव** -व्यक्ति परिवार में ही जन्म लेता है और परिवार में ही उसकी मृत्यु हो जाती है। इसलिए परिवार व्यक्ति पर रचनात्मक प्रभाव डालता है। जिस प्रकार का परिवार होगा उसी प्रकार व्यक्तियों के विचार व दृष्टिकोण निर्मित होंगे। मिट्टी के बर्तन के समान बच्चों के भविष्य का निर्माण परिवार में ही होता है।
- **सीमित आकार**चू - ंकि परिवार के अंतर्गत केवल वे ही व्यक्ति आते हैं जो वास्तविक या काल्पनिक रक्त् संबंध से होते हैं, इसलिए अन्य संगठनों की अपेक्षा इसका आकार सीमित होता है। किसी भी परिवार में दोचार सौ सदस्य नहीं होते-, क्योंकि जैसे बच्चे बड़े होते गए उनका विवाह होता गया, फलस्वरूप उन्होंने अलग परिवार बसाना प्रारंभ किया, इस तरह परिवार का आकार सीमित होता जाता है। आज संतति निरोध द्वारा पारिवारिक आकार को और सीमित बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है।
- **सामाजिक संरचना में केंद्रीय स्थिति**परिवार सामाजिक संरचना का के - ंद्र बिंदु है। जिसके आधार पर समाज की अन्य समस्त इकाइयों व सामाजिक संबंधों का निर्माण होता है। परिवार के बिना समाज की कल्पना नहीं की जा सकती। समाज का छोटा रूप परिवार और परिवार का विस्तृत रूप समाज है।
- **सदस्यों का उत्तरदायित्व**परिवार का आकार सीमित है लेकिन सदस्यों का उत्तरदायित्व - असीमित होता है। जबकि अन्य संगठन कृत्रिम हैं इसलिए उनके सदस्यों की जिम्मेदारी सीमित है। प्राथमिक समूह होने के नाते परिवार में इसके सदस्यों की जिम्मेदारी और कार्य बढ़ जाते हैं। परिवार में व्यक्ति को हर कार्य अपना समझकर करना पड़ता है।
- **सामाजिक नियंत्रण**प - रिवार सामाजिक नियंत्रण की एक उचित विधि है। परिवार प्राथमिक समूह है, इस कारण परिवार व्यक्ति के व्यवहारों पर प्रत्यक्ष नियंत्रण रखता है परिवार सामाजिक नियंत्रण का अनौपचारिक साधन है जिसके द्वारा व्यक्ति वास्तविक रूप से नियंत्रित रहते हैं।

- **परिवार की अस्थायी एवं स्थायी प्रकृति**परिवार की प्रकृति अस्थायी एवं स्थायी दोनों है। - में लेते हैं तो पुरूष का एक संगठन है। अगर परिवार को हम एक समिति के रूप-परिवार स्त्री इसकी प्रकृति अस्थायी है, क्योंकि जैसे ही परिवार का कोई सदस्य अलग हुआ या उसकी मृत्यु हो गई तो समिति नष्ट हो गई। लेकिन इसके वाबजूद परिवार स्थायी है क्योंकि परिवार एक संस्था है जो कृत्रिम नहीं बल्कि वास्तविक है, जिनका आधार मनोवैज्ञानिक प्रवृतियां हैं जो कभी नष्ट नहीं होतीं, इसलिए परिवार भी कभी नष्ट न होने वाली संस्था है।

6. 10 परिवार के प्रकार

मानव समाज में वैसे विभिन्न प्रकार के परिवार पाए जाते हैं लेकिन सुविधा की दृष्टि से परिवार को छह आधारों सत्ता, वंश, उत्तराधिकार, निवास स्थान, विवाह तथा सदस्य संख्या या आकार पर विभाजित किया जाता है-

सत्ता या वंश उत्तराधिकार या निवास स्थान के आधार पर परिवार के दो भेद हैं-

(क) **पितृसत्तात्मक(Patriachal)** या **पितृवंशीय(Patrilineal)** या **पितृनामी(Patrimonai)** या **पितृस्थानीय(Patrilocal)**,परिवार - भारत वर्ष में सामान्यतः इस प्रकार के परिवार प्रायः सभी सभ्य समाजों में पाए जाते हैं। कुछ जनजातीय समाजों में भी, उदाहरण के लिए उड़ीसा की खरिया तथा मध्य प्रदेश की भील जनजाति में पितृसत्तात्मक परिवार पाए जाते हैं।

(ख) **मातृसत्तात्मक (Matriarchal)** या **मातृवंशीय (Matrilineal)** या **मातृनामी (Matrimonial)** या **मातृस्थानीय (Matrilocal)**,परिवार - अधिकतर इस प्रकार के परिवार ब्रह्मपुत्र के दक्षिण की खासी, गारो जनजाति, केरल के नायर तथा दक्षिण भारत की इरूला, कादूर, पुलायन इत्यादि जनजातियों में पाए जाते हैं।

सदस्यों की संख्या के आधार पर परिवार को दो भागों में विभाजित किया जाता है-

(क) **मूल या केंद्रीय परिवार** इस प्रकार के परिवार में - स्त्री पुरूष व उन-के अविवाहित बच्चे सम्मिलित होते हैं। इसमें अन्य रिश्तेदारों का अभाव होता है, इसलिए इनका आकार छोटा होता है। इन्हें व्यक्तिगत परिवार कहते हैं।

)ख(**संयुक्त परिवार**भारत में परिवार से तात्पर्य संयु - क्त परिवार से है। संयुक्त परिवार से तात्पर्य ऐसे परिवार से है जिसमें कई पीढ़ी के लोग एक साथ एक छत के अंदर रहते हैं तथा उनकी सामान्य

संपत्ति, सामान्य संस्कृति एवं सामान्य निवास होता है। संयुक्त परिवार को प्रायः तीन भागों में बांटा जाता है-

)क(**मिताक्षरा संयुक्त परिवारः**बंगाल व अस -म को छोड़कर संपूर्ण भारत में पाए जाते हैं। इसमें पुत्र के पिता की संपत्ति पर जन्म से ही अधिकार हो जाता है। इसके प्रणेता विज्ञानेश्वर हैं।

)ख(**दायभाग संयुक्त परिवारः**बंगाल व असम में पा -ए जाते हैं। इसमें पिता की मृत्यु या उसके देने के बाद ही पुत्र का संपत्ति पर अधिकार होता है। इसके प्रणेता जीमूतवाहन हैं।

)ग(**विस्तृत परिवार** -यह संयुक्त परिवार का ही एक भेद है, जिसमें मूल परिवार के अलावा पतिपत्नी - सम्मिलित रहते है के रिश्तेदार भीं। आज की परिस्थिति कुछ भिन्न है, व्यक्ति अलगअलग दूर स्थानों - में नौकरी करते हुए भी अपने परिवार)संयुक्त परिवार(के धार्मिक क्रियाकलापों में हिस्सा बंटाते है-ं। इस प्रकार से उनका अपने परिवार के प्रति एक प्रकार का भावनात्मक लगाव बना रहता है। जिसके कारण भी हम इन्हें परिवार कहते हैं।

विवाह के आधार पर परिवार के मुख्यतः दो प्रकार हैं-

)क(**एक विवाही परिवार** इसमें एक पुरूष का एक - स्त्री से विवाह होता है आधुनिक सभ्य समाजों में एक विवाही परिवार ही मुख्यतः पाए जाते हैं। हिंदू विवाह अधिनियम , 1955 भी एक पति व एक पत्नी की अनुमति देता है।

)ख(**बहु विवाही परिवार** इस प्रकार - के परिवार में एक पुरूष कई औरतों से विवाह करता है या एक औरत कई पुरूषों से यौन संबंध रख सकती है। प्रायः इस प्रकार के परिवार आदिम समाजों में पाए जाते हैं। इसक दो स्वरूप हैं-

)1(**बहुपति विवाही परिवार** इस प्रकार के परिवार - में एक स्त्री के अनेक पति होते हैं। इसके दो भेद हैं-

)क(**भ्रातृक बहुपतिविवाही परिवार**इसमें सभी पति आपस में भाई होते हैं। नीलगिरि की टोडा व - नजाति में पाया जाता है।जौनसार की खस तथा मालाबार तट की नायर ज

)ख(**अभ्रातृक बहुपति विवाही परिवार**इसमें कोई आवश्यक नहीं कि सभी पति आपस में भाई ही - हों। टोडा व नायन में इस प्रकार का परिवार देखने को मिलता है।

)2(**बहुपत्नी विवाही परिवार**- इसमें एक पुरूष की अनेक पत्नियां रहती हैं नगा, गोंड, बैगा इत्यादि जनजातियों में इस प्रकार के परिवार पाए जाते हैं।

लिंटन ने संबंध के आधार पर परिवार के दो भेद किए हैं-

)क(**विवाह संबंधी परिवार** जिनमें पति पत्नी के बीच - के संबंध पाए जाते हैं। इनकी प्रकृति अस्थायी होती है।

)ख(**रक्त संबंधी परिवार**परिवारों में र इस प्रकार के - क्त संबंधी व्यक्ति रहते हैं तथा विवाह व धन की अपेक्षा रक्त पर ज्यादा जोर दिया है। भारत में संयुक्त परिवार इसी श्रेणी में हैं।

डब्ल्यू.एल. वार्नर ने परिवार को दो भागों में विभाजित किया है-

)क(**जन्ममूलक परिवार** यह वह परिवार है जिसमें -व्यक्ति पैदा होता है। बच्चों के लिए उसके माता-) पिता का परिवारजन्ममूलक(परिवार कहा जाएगा।

)ख(**प्रजननमूलक परिवार** जिस परिवार - को युवकयुवतिया-ं विवाह कर स्थापित करते हैं, उसे प्रजननमूलक परिवार कहा जाता है।

जिमरमैन ने परिवार के तीन प्रकार बताते हैं-

)क(**न्यासिता परिवार** जब किसी परिवार के अंतर्गत - व्यक्तिगत स्वार्थ की तुलना में समस्त परिवार का स्वार्थ सर्वोपरि हो जाता है तो ऐसे परिवार को न्यासिता का परिवार कहा जाता है। भारतीय संयुक्त परिवार एवं विस्तृत परिवार न्यासिता परिवार के बहुत ही उपयुक्त उदाहरण हैं।

)ख(**अतिलघु परिवार** जब परिवार में सदस्यों का अपना स्वार्थ सर्वोपरि हो जाता है तो उसे - अतिलघु परिवार कहा जाता है। इसे व्यक्तिवादी परिवार भी कहा जाता है।

)ग(**घरेलू परिवार**यह उपरो - क्त दोनों परिवार के बीच की स्थिति है। यहां व्यक्ति के स्वार्थ एवं परिवार के स्वार्थ में एक समझौता की स्थिति होती है।

बर्गेस एवं लॉक ने दो प्रकार के परिवार की चर्चा की-

(ii) ऐसा परिवार जिसमे - **संस्थागत परिवार**ं सदस्यों का व्यवहार लोकाचारों तथा जनरीतियों द्वारा नियंत्रित किया जाता है तो इसे संस्थागत परिवार कहते हैं।

(ii) **साहचर्य परिवार**दा - ंपत्य, स्नेह एवं एकात्मकता पर आधारित परिवार को साहचर्य परिवार कहते हैं। इस प्रकार के परिवारों की मुख्य विशेषता विवाहित युग्म का साहचर्यात्मक जीवन बिताने की मनोकामना है। विवाहित युग्म स्थायी वैवाहिक बंधनों की अपेक्षा परिवर्तनशील मैत्रीवत संबंधों में रहना अधिक पसंद करते हैं।

बोध 2.

i) वह परिवार जिसमें स्त्रीपुरूष व उनके अविवाहित बच्चे सम्मिलित होते - .....हैं

ii) ऐसा परिवार जिसमे सदस्यों का व्यवहार लोकाचारों तथा जनरीतियों द्वारा नियंत्रित किया जाता है, कहलाता है .....

6.11 परिवार के प्रकार्य

जॉर्ज पीटर मुर्डाक, जिन्होंने 250 समाजों का अध्ययन किया तथा 'परिवार को एक सार्वभौमिक संस्था कहा' मुर्डाक परिवार के चार कार्यों को महत्वपूर्ण मानते हैं-

)i(आर्थिक कार्य

(ii) प्रजनन संबंधी कार्य

(iii) धार्मिक और पालन पोषण का कार्य

(iv) शैक्षिक कार्य

- ऑगबर्न तथा निमकॉफ ने परिवार के निम्नलिखित कार्यों का उल्लेख किया है-

(i) स्नेह एवं प्रेमसंबंधी कार्य

(ii) आर्थिक कार्य

(iii) मनोरंजनसंबंधी कार्य

(iv) पोषण अथवा रक्षा-पालनसंबंधी कार्य

)v) धार्मिक कार्य

(vi) शिक्षा संबंधी कार्य

- रीक परिवार के कार्यों को चार भागों में बांटते हैं-

(i) वंश वृद्धि

)ii) समाजीकरण

(iii) यौन आवश्यकताओं की पूर्ति और नियंत्रण

(iv) आर्थिक कार्य

सामान्य रूप से हम परिवार के कार्यों की विवेचना निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं-

(1) परिवार के जैविकीय प्रकार्य

(क) यौनसंबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति

(ख) संतानोपत्ति का कार्य

(ग) प्रजाति का विकास

(2) -परिवार के शारीरिक सुरक्षा के कार्य

(क) भोजन, निवास, एवं वस्त्र की व्यवस्था

(ख) पोषण-बच्चों का पालन

(ग) सदस्यों की शारीरिक रक्षा

(3) -परिवार के मनोवैज्ञानिक प्रकार्य

(क) श्रम विभाजन

(ख) आय का प्रबंध

(ग) संपत्तिका प्रबंध

(घ) उत्तराधिकार

(4) -परिवार के सामाजिक प्रकार्य

(क) परिवार सदस्योंको एक निश्चित स्थिति प्रदान करता है

(ख) परिवार सदस्यों का समाजीकरण करता है

(ग) परिवार मानव सभ्यताको एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुंचाता है

(घ) परिवार सदस्यों पर आवश्यक नियंत्रण रखता है

(घ) परिवार सदस्यों को भविष्य के निर्णय लेने में सहायता देता है

(5) परिवार के शैक्षिक कार्य

(6) परिवार के सांस्कृतिक कार्य

(7) परिवारक के राजनीतिक कार्य

(8) परिवार के धार्मिक कार्य

(9) परिवारके मनोरंजनात्मक कार्य

6.12 परिवार के महत्वपूर्ण स्वरूप

उभयवाही परिवार- जिस परिवार में संतान का माता पिता-दोनों के संबंधियों के साथ समान रूप से संबंध रहता है, उभयवाही परिवार कहलाता है। जैसे एक व्यक्ति अपने दादानानी से समान -दादी और नाना- रूप सेसंबंधित होता है।

सम्मिश्रण परिवार -दो या अधिक मूल परिवारों से निर्मित एक ऐसा परिवार जिसका निवास एक ही स्थान पर एकल रूप में होता है, सम्मिश्रण परिवार कहलाता है। इसमें विस्तृत परिवार अथवा बहुपत्निक एवं बहुपतिक परिवार सम्मिलित होते हैं। यह यौगिक परिवार से मिलताजुलता है।-

यौगिक परिवार -बहुविवाह के आधार पर बने परिवार को यौगिक परिवार कहा गया है। इसमें दो या दो से अधिक केंद्रीय)मूल(परिवार किसी एक सामान्य निवास स्थान में साथसाथ रहते हैं। यह परिवार -साझा पति या पत्नी के द्वारा जुड़ा होता है। बहुधा बहुपत्नी विवाह की प्रणाली में जोड़ने वाला यह व्यक्ति पति होता है।

दांपतिक या दांपत्यमूलक परिवार -ऐसा परिवार जिसमें रक्त संबंधों की अपेक्षा पतिपत्नी के संबं-धों को अधिक महत्व एवं प्राथमिकता दी जाती है, दांपत्यमूलक परिवार के नाम से जाना जाता है। विवाह के आधार पर निर्मित इस प्रकार के परिवार की रचना पतिउनकी अविवाहित आश्रित संता पत्नी तथा-नों द्वारा होती है। यदि इनके साथ अन्य संबंधी)दंपत्ति के माता(बहन आदि-पिता या भाई- भी रहते हैं तो उनकी स्थिति महत्वहीन होती है। ऐसे परिवार में पतिपत्नी एवं बच्चों के संबंध- प्रकार्यात्मक रूप मे प्राथमिक होते हैं तथा अन्य व्यक्ति उनके मात्रा सहयोगी या गौण होते हैं। इसे लघु या जैविक परिवार भी कहते हैं।

द्विस्थानीय परिवार -ऐसे परिवार जिसमें विवाहोपरांत पतिसाथ नहीं रहते हैं-पत्नी साथ-, अपितु वे अलग-यह अलग उन्हीं परिवारों में रहते हैं जिनमें उनका जन्म हुआ है। लक्षद्वीप व केरल के कुछ भागों में परिवार देखने को मिलता है। ऐसे परिवारों में पति केवल रात बिताने के लिए अपनी पत्नी के घर जाता है किंतु दिन में जीविकोपार्जन करने के लिए पुनः अपने जन्म के परिवार में लौट आता है।

उभयस्थानिक विस्तारित परिवारजब विवाह के पश्चात पुत्र - अथवा पुत्री अपने मूल परिवार में ही रहते हैं, तब इस प्रकार के उभयस्थानिक परिवार का जन्म होता है। इस प्रकार के बंधन सूत्र पिता तथा पुत्र अथवा माँ और पुत्री के बीच होता है।

6.13 धर्म का अर्थ

मानव समाज के इतिहास में-धर्म हमेशा रहा है। धर्म संस्कृति का एक भाग होने के साथ ही मानव के सामाजिक जीवन का एक महत्वपूर्ण आयाम है। यह मानवव्यवहार को नियंत्रित करने के लिए नैतिक - आधारों को ग्रहण करता है। अलौकिक सत्ता के अस्तित्व में विश्वास की एक व्यवस्था धर्म है। वे किसी अलौकिक शक्ति से डरने लगें और उसमें विश्वास करने लगे। उस शक्ति को वे अपने से अधिक शक्तिशाली मानते थे।

धर्म की परिभाषा-

मानवशास्त्री टायलर ने धर्म को परिभाषित करते हुए एक अलौकिक सत्ता में विश्वास को धर्म कहा है समाजशास्त्री इस्माइल दुर्खीम के अनुसार धर्म विश्वास की एकबद्धता है और इसमें पवित्र वस्तुओं से संबंधित क्रियाएं होती हैं।

6.14 धर्म की आधरभूत विशेषताएं-

धर्म की मुलभूत विशेषताएं निम्नलिखित हैं -

- प्राकृतिक शक्ति में विश्वास।

- यह विश्वास मन की भावनात्मक दशा जैसे भय ,प्रसन्नता, भक्ति आदि से संबंधित है।
- धार्मिक प्रथाओं में बहुत सारी वस्तुएं सम्मिलित हैं। जैसेवेदी-, घंटी, वस्त्र, फूल, केला पत्तियां, बलिदान, क्रॉस, अगरबत्ती आदि।
- जो जीवित वस्तुएं धर्मिक क्रियाओं के लिए प्रयुक्त होती हैं वे प्रत्येक संस्कृति में भिन्न प्रकार की हो सकती हैं।
- सामान्यतः धार्मिक अनुष्ठान, अकेले में क्रियान्वित होते हैं लेकिन अवसर विशेष पर इनका सामूहिक रूप में आयोजन भी होता है।
- प्रत्येक धर्म की अपनी विशिष्ट पूजा-विधि है ।
- प्रत्येक धर्म का विशेष पूजास्थल है।-
- स्वर्गअपवित्र की अवध-नरक और पवित्र-ारणा प्रत्येक धर्म में विद्यमान है।

6.15 धर्म के सिद्धांत –

मानवशास्त्रियों एवं समाजशास्त्रियों ने धर्म की उत्पत्ति के सिद्धांत प्रतिपादित किए हैं। ये सिद्धांत सामान्यतया उद्विकासीय हैं क्योंकि ये धर्म की संस्था के विकास के क्रमिक स्तर का वर्णन करते हैं। ई . वी. टायलर ने अपनी पुस्तक प्रिमिटिव कल्चर में धर्म की उत्पत्ति के विषय में स्पष्टतः अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। उनका धर्म का सिद्धांत आत्मवाद के सिद्धांत के रूप में जाना जाता है। इनके सिद्धांत के अनुसार धर्म आत्मा की धारणा से उत्पन्न हुआ। मृत्यु के तथ्य एवं स्वप्न की प्रघटना से आदिम लोगों के मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि मृत्यु के बाद आत्मा का देहांतरण होता है और सोने के समय ये स्वतंत्र आत्माएं शरीरआत्मा से संपर्क स्थापित करती हैं। उनके अनुसार स्वप्न इसी अंतःक्रिया की - अभिव्यक्ति हैं।

जे .जी. जर ने अपनी पुस्तक गोल्डन बो में धर्म की उत्पत्ति का सिद्धांत जादू और धर्म के बीच अंतर करते हुए प्रस्तुत किया। जर के अनुसार जादू बलपूर्वक प्रकृति पर नियंत्रण का प्रयास है। इसमें व्यक्ति यह मानकर चलता है कि प्रकृति की शक्ति की अपेक्षा मानव की शक्ति अधिक है। इसके विपरीत धर्म में उस शक्ति को मनुष्य से श्रेष्ठ माना जाता है इसलिए उसे संतुष्ट करने का प्रयत्न किया जाता है फ्रेजर के अनुसार मानव की विचारधारा क्रमश: पहले जादुई अवस्था फिर धार्मिक अवस्था और फिर वैज्ञानिक अवस्था पर विकसित हुई है।

मैक्समूलर का धर्म की उत्पत्ति का सिद्धांत प्रकृतिवाद के नाम से जाना जाता है। टायलर की ही भांति मैक्समूलर का सिद्धांत भी आदिम मानव की बौद्धिक भूल पर आधारित है। आदिम मानव को प्रारंभ में प्रकृति विस्मयकारी, डरावनी और आश्चर्यजनक प्रतीत हुई। विस्मय एवं आतंक के इस वातावरण ने

प्रारंभिक समय से ही धार्मिक विचार एवं भाषा के लिए मनोवेग प्रदान किया। इसी अनंत अनिश्चितता की संवेदना से धर्म का प्रादुर्भाव हुआ।

अपनी पुस्तक दा एलीमेंट्री फॉर्म्स ऑफ रिलिजियस लाइफ में दुर्खीम ने धर्म की उत्पत्ति के सभी विद्यमान सिद्धांतों को निरस्त कर दिया। उन्होंने धर्म का समाजशास्त्रीय सिद्धांत प्रस्तुत किया। दुर्खीम के अनुसार प्रत्येक धर्म में साधारण और पवित्र के रूप में वस्तुओं का विभाजन होता है। पवित्र वस्तुएं वे हैं जो विशेष और श्रेष्ठ के रूप में संरक्षित एवं पृथक रखी जाती हैं। साधारण वस्तुएं निषिद्ध होती हैं और पवित्र से दूर रखी जाती हैं। किसी वस्तु की पवित्रता उसकी अंतर्निहित विशेषता नहीं होती है। यह उसे दूसरे स्रोतों से प्राप्त होती है।

दुर्खीम के अनुसार टोटमवाद धर्म का अति प्राचीन रूप था। गिडेंस के अनुसार 'टोटम' शब्द की प्रथम उत्पत्ति उत्तरी अमेरिकन भारतीय जनजातियों में हुई लेकिन इसका व्यापक प्रयोग उन पौधों या पशुओं के संदर्भ में हुआ जिनमें अलौकिक शक्ति मानी गई। टोटम में विचारों की श्रृंखला होती है। उन विचारों में यह है कि एक सामाजिक समूह के लोग एक ही पूर्वज से संबंधित हैं)गोत्र, वंश आदि(। टोटम को दर्शाने के लिए प्रतीकों का प्रयोग किया जाता है। समान टोटम के समूह के सदस्यों के बीच यौनसंबंध या - विवाह निषिद्ध होता है। टोटम के मारने, खाने तथा समारोह में बलि दिए जाने पर पूर्णतः प्रतिबंध होता है।

दुर्खीम का मूलभूत तर्क यह है कि सभी धार्मिक विचारों जैसेटोटम की उत्पत्ति सामाज-िक समूह से हुई, देवी,देवता- पवित्र तथा अपवित्र, स्वर्ग तथा नरक एवं टोटम स्वयं समूह के सामूहिक प्रतिनिधि हैं।

टोटम का संबंध पवित्रता से माना जाता है क्योंकि यह सामूहिक जीवन का प्रतीक है। लोग टोटम का सम्मान करते हैं क्योंकि वे सामाजिक मूल्यों का सम्मान करते हैं। टोटम सामूहिक संचेतना का प्रतिनिधित्व करता है। दुर्खीम के अनुसार धर्म के सामूहिक उत्सव होते हैं। लोगों का धर्म में विश्वास सामूहिक एकात्मकता को और अधिक दृढ़ करता है।

61.5 1.कार्ल मार्क्स का सिद्धांत -

यद्यपि कार्ल मार्क्स ने धर्म के उन्मूलन की बात नहीं की)जिस प्रकार व्यक्तिगत संपत्ति की समाप्ति की बात की(पर उसने पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की भांति धर्म में भी मनुष्य के विलगाव)अलगाव(की कल्पना की। मार्क्स ने कहा है कि मनुष्य जितना ही ईश्वर में विश्वास रखेगा उतना ही स्वयं से दूर होता जाएगा। उसने कहा भी कि 'धर्म जनता के लिए अफीम है। लोग स्वयं व अन्य मानवों पर किए गए अन्याय एवं असमानता को ईश्वरेच्छा के रूप में स्वीकृति प्रदान करते हैं और इसके परिणामस्वरूप दमन

के विरूद्ध प्रतिरोध कम हो जाता है। धर्म बाद के जीवन के सुखतर होने का विश्वास दिलाता है। मार्क्स का विचार है कि धर्म असमानता एवं शोषण के विरूद्ध बगावत की संभावना कम कर देता है।

61.5 2.मैक्स वेबर का सिद्धांत -

मैक्स वेबर ने आर्थिक विकास में धर्म की उपादेयता की खोज के लिए विश्व के धर्मों का अध्ययन किया जिसमें हिंदू धर्म भी सम्मिलित है। वेबर ने अपनी पुस्तक द प्रोटेस्टैंट इथिक एंड द स्प्रिंट ऑफ कैपिटलिज्म में लिखा है कि पश्चिम में प्रोटेस्टैंट धर्म के उदय के कारण आधुनिक पूंजीवाद का विकास हुआ। वेबर के अनुसार काल्विनवाद ने उद्यमियों के विकास में सहायता की, क्योंकि प्रोटेस्टैंट धर्म की मान्यता है कि भौतिक सफलता के लिए ईमानदारी से कठोर परिश्रम ही ईश्वर की सच्ची सेवा है। इसके विपरीत हिंदू धर्म पारलौकिकता के दर्शन और भौतिक संपत्ति के त्याग पर जोर देने के कारण विकास में सहायक नहीं है। हिंदू धर्म और भारतीय आर्थिक विकास में इसके प्रभाव से संबंधित वेबर के निष्कर्ष सही नहीं हैं। देखा जाए तो देश के अधिकांश प्रारंभिक उद्यमी जैसे मारवाड़ी प्रबल आस्थावान समुदायों में से एक हैं। इस तथ्य में भी सत्यता नहीं है कि पश्चिमी जगत में केवल प्रोटेस्टैंटों ने ही विकास किया, कैथोलिकों ने नहीं।

6.16 सारांश

इस इकाई में आपने विवाह, परिवार एवं धर्म के सभी पक्षों की जानकारी प्राप्त की तथा विवाह एक सामाजिक संस्था है जो समाज को आगे बढ़ाने का काम करती है। विवाह के द्वारा ही परिवार का निर्माण होता है। सभी धर्मो में विवाह के विभिन्न नियम हैं। जब विवाह के द्वारा परिवार का निर्माण होता है तो परिवार एकल परिवार एवं संयुक्त परिवारों के रूप में अस्तित्व में आता है। परिवार की उत्पत्ति के भी विभिन्न सिद्धांत हैं जो यह बताते हैं कि परिवार की उत्पत्ति किस तरह हुई है तथा परिवार के समाज के लिए महत्वपूर्ण प्रकार्य किस तरह करता है। संयुक्त परिवार की विशेषताएं क्या हैं इस इकाई में तीसरे तथ्य के रूप में धर्म की उत्पत्ति कैसे हुई है तथा सामाजिक संरचना को धर्म किस तरह सपोट करता है। धर्म की विशेषताओं के साथ साथ-धर्म के सिद्धांतों जैसे टायलर के धर्म के सिद्धांतों कि धर्म अलौकिक सत्ता में विश्वास है, इत्यादि की जानकारी प्राप्त हुई है।

6.17 अभ्यास प्रश्न

.1 विवाह से आप क्या समझते हो?

.2 विवाह की विशेषताएं एवं उद्देश्यों का वर्णन करो?

.3 विवाह के प्रकार एवं विवाह की उत्पत्ति केसिद्धांत बताइएं?

.4 विभिन्नधर्मों के विवाहों का वर्णन कीजिए?

.5 परिवार की अवधारणा बताएं? तथा उसकी विशेषताओं का वर्णन कीजिए?

.6 परिवार की उत्पत्ति के विभिन्नसिद्धांतों का वर्णन कीजिए?

.7 परिवारों के प्रकार एवं प्रकार्य का वर्णन कीजिए?

.8 संयुक्त परिवारों का अर्थ एवं विशेषताएं बताइए?

.9 धर्म से क्या तात्पर्य है इसकी विशेषताएं बताइए?

.10 धर्म के विभिन्न सिद्धांतों का वर्णन कीजिए?

6.18 पारिभाषिक शब्दावली

.1 उद्वह - -वरवधू को घर ले जाना।

.2 एक विवाह - एक ही स्त्री से विवाह।

.3 बहुपति विवाह - एक स्त्री कई पति।

.4 बहु पत्नी विवाह - ऐसा विवाह जिसमें एक पुरूष एकाधिक स्त्रियां से विवाह करता है।

.5 अधिमान्य विवाह - जीवन साथी के चुनाव के लिए किसी एक समूह को वरीयता।

.6 देवर विवाह - मृतक पति के छोटे भाई से विवाह।

.7 अंतर्विवाह - अपने समूह से जीवन साथी का चुनाव।

.8 बहिर्विवाह - अपने समूह से बाहर विवाह।

.9 सार्वभौमिकता - सभी जगह।

.10 पितृ सत्तात्मक - जहां पिता की सत्ता।

.11 मातृसत्तात्मक - जहां माता की सत्ता।

.12 न्यासिता परिवार - परिवार का स्वार्थ सर्वोपरि।

.13 पवित्र वस्तुएं - विशेष एवं श्रेष्ठ।

.14 टोटम - अलौकिक शक्ति का समावेश।

6.19 संदर्भ ग्रंथ सूची

.1 गिडेंस, एंथनी, समाजशास्त्र, कैंब्रिज, पोरिटि प्रेस ।1993

.2 हेरोलंबस, एम, समाजशास्त्र थीम्स एंड प्रेसपेक्टिव, न्यू दिल्ली, आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, ।1989

.3 जानसन, हेरी एम., समाजशास्त्र ए सिस्टेमेटिक इनट्रोडक्शन, न्यू दिल्ली, ऐलाईड पब्लिशर्स, प्राइवेट लिमिटेड, ।1983

.4 मर्डाक, जार्ज पी, सामाजिक संरचना, न्यूयार्क, मैक्मिलन, ।1949

.5 .पीएच. प्रभु, हिंदू सोशल आर्गेनाइजेशन, पॉपुलर प्रकाशन, मुम्बई।

.6 .पी ओबेराय, फेमिली मैरिज एंड किनशिप, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफोर्ड ।

.7 दुर्खीय, इसमाइल, एलीमेंट्री फॉमर्स ऑफ रिलिजियस लाइफ, जार्ज एलन एंड. अनविन लि. लंदन, ।1930

.8 मैक्स वेबर, सोशियोलॉजी ऑफ रिलिजन, दी प्रेस बोस्टन, ।1963

इकाई-7 सामाजिक प्रक्रियायें: अर्थ एवं प्रकार
(Social Processes : Meaning & Types)

इकाई की रूपरेखा

7.0 परिचय

7.1 उद्देश्य

7.2 सामाजिक प्रक्रिया का अर्थ एवं परिभाषाएं

7.3 सामाजिक प्रक्रियाओं के प्रकार

7.3.1 सामान्य सामाजिक प्रक्रिया

7.3.2 सहयोगी सामाजिक प्रक्रिया

7.3.3 असहयोगी सामाजिक प्रक्रिया

7.4 सामाजिक अंतर्क्रिया के आधारभूत तत्व

7.4.1 सामाजिक संपर्क

7.4.2 संचार

7.5 सहयोगी सामाजिक प्रक्रिया के प्रकार

7.5.1 सहयोग

7.5.2 आत्मसात सात्मीकरण/

7.5.3 एकीकरण

7.6 असहयोगी सामाजिक प्रक्रिया

7.6.1 प्रतिस्पर्धा

7.6.2 संघर्ष

7.7 सारांश

7.8 अभ्यास प्रश्न

7.9. पारिभाषिक शब्दावली

18.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

7.0 परिचय

इस इकाई में सामाजिक प्रक्रिया का विस्तार से अध्ययन करेंगे। सामान्यतः सामाजिक प्रक्रिया के अंतर्गत सामाजिक अंतर्क्रिया आती है। समाज में हमेशा अंतर्क्रिया के द्वारा सामाजिक प्रक्रियाएं चलती रहती हैं । कुछ क्रियाएं ऐसी होती हैं जो समाज के लिए सहयोग का कार्य करती हैं । उन्हें सहयोगी सामाजिक प्रक्रिया कहा जाता है। जैसेः सहयोग, व्यवस्थापन, सात्मीकरण, एकीकरण इत्यादि तथा कुछ सामाजिक क्रियाएं ऐसी होती हैं जो समाज के लिए सहयोग का कार्य नहीं करती हैं उन्हें असहयोगी सामाजिक क्रियाएं कहा जाता है। जैसेः प्रतिस्पर्धा, संघर्ष, विरोध, विद्रोह इत्यादि। ये क्रियाएं समाज में हमेशा चलती रहती हैं ये कभी नहीं रूकती हैं इसलिए इन्हें प्रक्रिया कहा गया है।

7.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप-

- सामाजिक प्रक्रिया का अर्थ एवं परिभाषाओं के बारे में जान सकेंगे।
- सामाजिक प्रक्रियाओं के प्रकारों के बारे में जान सकेंगे।
- सहयोगी प्रक्रियाएं क्या होती हैं । के बारे में जान सकेंगे।
- असहयोगी प्रक्रियाएं क्या होती हैं । के बारे में जान सकेंगे।
- सामाजिक प्रक्रिया के आधारभूत तत्वों के बारे में जान सकेंगे।
- सहयोगी प्रक्रिया के प्रकारों को जान सकेंगे।
- असहयोगी प्रक्रिया के प्रकारों को जान सकेंगे।

7.2 सामाजिक प्रक्रिया का अर्थ एवं परिभाषाएं

समाज में व्यक्ति की आवश्यकताएं अनंत हैं जिनकी पूर्ति के लिए वह दूसरे व्यक्तियों के संपर्क में आता है तथा समाज के नियमों के अनुसार उनसे व्यवहार करता है। समाजशास्त्रीय शब्दावली में इसे सामाजिक अंतर्क्रिया कहते हैं अंतर्क्रिया में दो व्यक्ति या समूह आपस में क्रिया करते हैं। वास्तव में देखा जाए तो समाज विभिन्न प्रस्थितियों में बंटा हैं। अतः अंतर्क्रिया दो प्रस्थितियों के बीच होने वाली क्रिया होती है। अंतर्क्रिया किसी न किसी प्रकार के संबंधों को जन्म देती है। अंतर्क्रिया का आधार हमेशा मधुर संबंध ही नहीं होता बल्कि ईर्ष्या, घृणा भी होता है। उदाहरणार्थ, दो व्यक्तियों या दो देशों के बीच संघर्ष सामाजिक अंतर्क्रिया ही है। अतः क्रिया का निरंतर रूप से होना ही सामाजिक प्रक्रिया कहलाता है। अंतर्क्रिया के विभिन्न स्वरूपों को भी हम सामाजिक प्रक्रिया कहते हैं।

जैसा कि गिलिन व गिलिन ने कहा है कि 'सामाजिक प्रक्रिया से हमारा तात्पर्य अंतर्क्रिया करने के वे तरीके हैं जिन्हें हम व्यक्तियों एवं समूहों के बीच संबंधों के समय देखते हैं। अथवा जब प्रचलित जीवन-विधियों के परिवर्तन में व्यवधान पहुंचाते हैं।'

बीसंज तथा बीसंज के शब्दों में 'अंतर्क्रिया के विभिन्न स्वरूप ही सामाजिक प्रक्रिया कहलाते हैं ।'

लुंडबर्ग तथा अन्य ने कहा है कि 'प्रक्रिया का अर्थ एक अपेक्षाकृत विशिष्ट तथा पूर्वानुमानित परिणामों की ओर ले जाने वाली संबंधित घटनाओं के अनुक्रम से है।'

इस प्रकार सामाजिक प्रक्रियाएं मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति का आधार हैं और यह व्यक्ति से गहरे रूप से जुड़ी हुई होती हैं।

7.3 सामाजिक प्रक्रिया के प्रकार

- सामान्य सामाजिक प्रक्रिया
- सहयोगी सामाजिक प्रक्रिया
- असहयोगी सामाजिक प्रक्रिया

7.3.1 सामान्य सामाजिक प्रक्रिया

सामान्य सामाजिक प्रक्रिया के अंतर्गत सामाजिक अंतर्क्रिया आती है। अंतर्क्रिया के बिना कोई समूह अथवा सामाजिक जीवन संभव नहीं है। व्यवहार प्रणालियां अंतर्क्रिया से विकसित होती हैं। अंतर्क्रिया सामाजिक संबंधों की मूल आवश्यकता है। इसलिए समाज अंतर्क्रिया पर आधारित है।

इस प्रकार सामाजिक अंतर्क्रिया संपूर्ण सामाजिक संबंधों का निर्देश करती है जिसमें व्यक्तियों के बीच पारस्परिक उत्तेजना एवं अनुक्रिया होती है। सामाजिक अंतर्क्रिया, अंतरूत्तेजना एवं पारस्परिक अनुक्रिया के माध्यम से मनुष्यों द्वारा एक दूसरे पर डाला गया पारस्परिक प्रभाव है।

इस प्रकार सामाजिक अंतर्क्रिया तीन स्तरों पर चलती है।

- व्यक्ति-व्यक्ति के बीच।
- व्यक्तिसमूह के बीच।-
- समूहसमूह के बीच।-

यह अंतर्क्रिया सामाजिक प्रक्रिया नहीं बल्कि उसकी यह प्रारंभिक स्थिति है।

7.4 सामाजिक अंतर्क्रिया के आधारभूत तत्व

सामाजिक अंतर्क्रिया के दो आधारभूत तत्व हैं जिनकी अनुपस्थिति में सामाजिक अंतर्क्रिया का होना असंभव है। ये हैं-

- सामाजिक संपर्क तथा
- संचार

सामाजिक संपर्क शारीरिक अथवा भौतिक संपर्क से भिन्न हैं। सामाजिक संपर्क रेडियो, पत्रों, टेलीफोन एवं संचार के अन्य साधनों द्वारा ऐसे व्यक्तियों के बीच भी स्थापित किया जा सकता है जो हमसे दूर हैं।

सामाजिक संपर्क दो प्रकार का हो सकता है-

- प्रत्यक्ष संपर्क
- अप्रत्यक्ष संपर्क

प्रत्यक्ष संपर्क में अंतर्क्रिया करने वाले व्यक्ति या समूह एकशारीरिक स दूसरे के-ंपर्क में रहते हैं, जैसे दो व्यक्ति अभिवादन करते समय या उसके बाद वार्तालाप करते समय, किंतु अप्रत्यक्ष संपर्क में उनका आमनेसामने रहना आवश्यक नहीं है। वे पत्रों-, टेलीफोन या अन्य साधनों द्वारा भी संपर्क कर सकते हैं। यद्यपि प्रत्यक्ष संपर्क अंतर्क्रिया की आवश्यक शर्त नहीं है, किंतु फिर भी यह अंतर्क्रिया के सरलीकरण में अधिक सहायक है। दो व्यक्ति जो आमनेसामने बैठकर बातचीत कर रहे हैं वे शिष्टाचार-, परिपाटी या अन्य आचारविचारों का अ-धिक पालन करते हैं अपेक्षाकृत उनके जो पत्र व्यवहार द्वारा अंतर्क्रिया कर रहे हैं।

संचार (Communication): अंतर्क्रिया का दूसरा महत्वपूर्ण तत्व संचार है। संचार का अर्थ है अपनी बातों, अपने विचारों, भावनाओं, उद्देश्यों, विश्वासों आदि को दूसरों तक पहुंचाना। मानव समाज में प्रतीकात्मक संचार होता है। गिलिन व गिलिन संचार को दो भागों में विभाजित करते हैं-

- पूर्ण संचार
- अपूर्ण संचार

पूर्ण संचार तब होता है जब अंतक्रिया करने के अर्थ में समझ लिया जाए जिस अर्थ में कहना चाहते हैं। जब अंतर्क्रिया करने वाले व्यक्ति परस्पर अपनी बातों को नहीं समझ पाएं तो वह अपूर्ण संचार होता है।

संचार स्थितिसापेक्ष होती है अर्थात प्रत्येक स्थिति में संचार विभिन्न प्रकार का हो सकता है। एक ही - भिन्न स्थितियों में भिन्न अर्थ हो सकता है। यदि आप एक-क्रिया का भिन्नव्यक्ति के सामने मुस्कराते हुए देखते हैं तो आप इसके अनेक अर्थ लगा सकते हैं। मुस्कराहट अभिवादन के लिए भी हो सकती है, व्यंग्य के रूप में भी हो सकती है, अपमान के रूप में भी हो सकती है तथा किसी कौतूहल के कारण भी हो सकती है।

7.5 सहयोगी सामाजिक प्रक्रियाओं के प्रकार

समाज के सदस्यों को एकता के सूत्र में बांधने में आधारभूत होती हैं इसीलिए इन्हें 'एकीकरण की प्रक्रियाए (Integrative Processes) भी कहा जाता है। इन प्रक्रियाओं में सहयोग, समायोजन, सात्मीकरण और एकीकरण विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं।

7.5.1 सहयोग

यह मानव समाज की सबसे महत्वपूर्ण प्रक्रिया है। बिना सहयोग के समाज एक क्षण भी नहीं चल सकता। सहयोग समाज के सामान्य उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है। यह सहयोग ही है जो व्यक्तियों को एक साथ मिलकर काम करने और समाज को संगठित करने को निश्चित करता है । आज तक तो सहयोग न केवल स्थानीय स्तर पर बल्कि राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर देखने को मिलता है। सहयोग को पारस्परिक सहायता, एकता और परिश्रम की भावना उत्पन्न करती है।

सहयोग की आधारभूत विशेषताएं हैं।

- दो या दो से अधिक व्यक्तियों अथवा समूहों का होना।
- एक सामान्य उद्देश्य का होना।

- हम की भावना का पाया जाना।
- सहयोग करने वालों का एक दूसरे के प्रति जागरूक होना)चेतन प्रक्रिया(।
- पारस्परिक सहायता एवं साथसाथ मिलकर काम करने की भावना का पाया जाना।-
- लक्ष्य प्राप्ति के लिए निरंतर और संगठित प्रयत्न करना।

सहयोग के स्वरूप (Forms of Co-operation)

मैकाइवर व पेज सहयोग के दो स्वरूप बताते हैं।

- **प्रत्यक्ष सहयोग (Direct Co-operation):** यह तब होता है जब अनेक व्यक्ति अथवा समूह आमने-सामने(Face to face) के संबंधों द्वारा संगठित होकर कोई कार्य करते हैं। उदाहरण के लिए, खेल के मैदान में एक टीम के खिलाड़ियों द्वारा एकदूसरे को दिया जाने वाल-ा सहयोग, चुनाव में किसी प्रत्याशी को विजयी बनाने के लिए कुछ लोगों द्वारा मिलकर प्रचार करना प्रत्यक्ष सहयोग है। प्रत्यक्ष सहयोग के लिए संबंधित व्यक्तियों में समान उद्देश्य और समान कार्य की स्थिति का होना बहुत आवश्यक है।
- **अप्रत्यक्ष सहयोग)Indirect Co-operation):** सहयोग का रूप अप्रत्यक्ष तब होता है जब सहयोग करने वाले व्यक्तियों का उद्देश्य तो समान होता है लेकिन इस उद्देश्य को वे असमान कार्यों द्वारा पूरा करते हैं। श्रमहै। वर्तमान जटिल समाज में विभाजन अप्रत्यक्ष सहयोग का सर्वोत्तम उदाहरण-द्वितीयक संबंधों की अधिकता और विशेषीकरण की प्रधानता के कारण अप्रत्यक्ष सहयोग का महत्त्व दिनप्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है।-

महत्व अथवा प्रकार्य

- सामाजिक तथा सांस्कृतिक प्रगति के लिए।
- सहयोग सामूहिकता का आधार है।
- सामाजिक एकता सहयोग पर ही निर्भर है।

7.5.2 आत्मसातस/ात्मीकरण

इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग अमेरिकन प्रजातीय संबंध अनुसंधान के संदर्भ में राबर्ट पार्क द्वारा किया गया था। चूंकि अमेरिका में विभिन्न संस्कृति के लोग आकर बस गए हैं। वहां के समाजशास्त्रियों द्वारा यह जानने का प्रयास किया गया कि विभिन्न नृजाति समूह के लोग किस प्रकार अमेरिकी समाज एवं

संस्कृति को स्वीकार कर रहे हैं। अपने अध्ययनों के आधार पर राबर्ट पार्क ने बताया कि आत्मसातीकरण की प्रक्रिया चार चरणों से गुजरती है, जिसे उन्होंने 'प्रजातीय संबंधों का चक्र' Race Relations Cycleकहा है-

संपर्क)Contact(, प्रतियोगिता)Competition(, समायोजन)Accomodation(एवं आत्मसात)Assimilation(

एक लंबे समय तक आत्मसात का प्रयोग एक तरफी प्रक्रिया के लिए किया जाता रहा है। समाजशास्त्रियों के चिंतन में यही प्रमुख रहा कि किस प्रकार कोई बाहरी पहले सांस्कृतिक समूह नए परिवेश में अपने आपको समायोजित करता है। लेकिन वर्तमान समाजशास्त्र में इस शब्द का प्रयोग दो तरफी प्रक्रिया के लिए होता है। समाजशास्त्रियों के लिए महत्वपूर्ण यह है कि दो भिन्न किस्म के सांस्कृतिक समूह किस प्रकार नई परिस्थिति में अपने आपको समायोजित करते हैं। यही कारण है कि आत्मसात का प्रयोग संस्कृतिग्रहण, Acculturation के पर्यायवाची शब्द के रूप में किया जा रहा है।

आत्मसात सामाजिक एवं सांस्कृतिक एकीकरण की प्रक्रिया है। संघर्ष से एकीकरण की ओर बढ़ने का प्रथमण। लंबे समय तक व्यवस्थापन करने पर चरण व्यवस्थापन है और आत्मसात अंतिम चर- आत्मसात का मार्ग तैयार होता है।

इस प्रकार आत्मसात संस्कृतिकरण की प्रक्रिया है जिसमें विभिन्न संस्कृतियां एक संस्कृति में संयुक्त हो जाती हैं। एक व्यक्ति या समूह द्वारा अन्य व्यक्ति या समूह में अपने अस्तित्व को विलीन कर देना ही आत्मसात कहलाता है। इसमें एक संस्कृति खोती है तो दूसरी लाभ प्राप्त करती है। हिंदू समाज में पत्नी द्वारा अपना अस्तित्व पूर्णतः पति में समाहित कर देना भी आत्मसात का उदाहरण है।

आत्मसात्मीकरण की विशेषताएं-

- आत्मसात एक सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रक्रिया है।
- आत्मसात एक प्रक्रिया एवं अवस्था दोनों ही है।
- आत्मसात एक मंद गति से चलने वाली प्रक्रिया है।
- यह खुले या मुक्त समाजों में अधिक पाई जाती है।
- आत्मसात एक वैयक्तिक एवं सामाजिक प्रक्रिया है।
- आत्मसात की प्रक्रिया एकीकरण को बढ़ावा देती है।
- आत्मसात एक संगठनकारी प्रक्रिया है।

आत्मसात में सहायक कारक या दशाएं

निम्नांकित कारक आत्मसात की प्रक्रिया को प्रोत्साहन देते हैं।

- सहिष्णुता।
- समीपता एवं सामाजिक संपर्क।
- समान आर्थिक अवसर ।
- सांस्कृतिक समानता।
- मिश्रण।
- समान समस्याएं ।
- उन्नत संचार ।
- समान भाषा।
- परिवर्तन के प्रति अनुकूल दृष्टिकोण।
- विदेशी संस्कृति के प्रति सहानुभूतिपूर्ण रूख ।
- प्राथमिक संबंधों की बहुलता।
- नेतृत्व करने वाले समूह का विस्तृत एवं उदार दृष्टिकोण।

7.5.3 एकीकरण

आत्मसात में जहां दो असमान समूह एक समान हो जाते हैं, उनमें भिन्नता समाप्त हो जाती है वहीं एकीकरण में भिन्नसमूह अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाए रखते हुए सामान्य भिन्न- लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए मिलकर कार्य करते हैं। यहां एकीकरण का तात्पर्य सामान्यतः उन बंधनों से है जो एक समाज के सदस्यों को एक सूत्र में पिरोते हैं अर्थात् जो उन्हें एकदूसरे से सम्ब-द्ध होने की दिशा में आगे बढ़ाते हैं।

भारतीय समाज में सामाजिक एकीकरण की प्रक्रिया सर्वोत्तम रूप में विद्यमान हैं जिसमें हिंदू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, पारसी अपनीअपनी भिन्नताओं के बावजूद ये महसूस करते हैं कि वे सब एक राष्ट्र के - घटक हैं, उनसे मिलकर राष्ट्र निर्मित हुआ है।

प्रत्येक समाज में एकीकरण की प्रक्रिया पाई जाती है, अंतर सिर्फ मात्रा को लेकर है। किसी समाज में अधिक तो किसी में कम । ऑगबर्न एवं निमकॉफ तीन कारकों का उल्लेख करते हैं जिस पर एकीकरण की मात्रा निर्भर होती है-

- समूह का आकार
- समरूपता तथा
- भौतिक गतिशीलता

ध्यातव्य हो कि पूर्ण एकीकरण किसी भी समाज में असंभव है।

7.6 असहयोगी सामाजिक प्रक्रिया

व्यक्तित्व के निर्माण और सामाजिक संगठन में सहयोगी सामाजिक प्रक्रियाओं का योगदान यद्यपि प्रत्यक्ष और रचनात्मक होता है लेकिन सामाजिक जीवन की पूर्णता के लिए समाज में कुछ असहयोगी प्रक्रियाओं का होना भी उतना ही महत्वपूर्ण है। असहयोगी प्रक्रियाएं सामाजिक प्रगति के लिए आवश्यक हैं और इन्हीं की सहायता से व्यक्ति सहयोग के वास्तविक मूल्य को समझ पाते हैं। प्रतिस्पर्धा, संघर्ष तथा प्रतिकूलता इस प्रकार की महत्वपूर्ण असहयोगी सामाजिक प्रक्रियाएं हैं।

7.6.1 प्रतिस्पर्धा

नगरीकरण, उद्योगीकरण तथा श्रम विभाजन के फलस्वरूप प्रतिस्पर्धा का विकास हुआ है। आधुनिक समाजों में यह प्रक्रिया अत्यंत महत्वपूर्ण हो गई है। क्योंकि वस्तुएं सीमित होती जा रही हैं तथा उसके प्राप्त करने वाले दिनों दिन बढ़ते जा रहे हैं। अतः उनमें एक प्रकार की होड़ लगी हुई है जिसे प्रतिस्पर्धा के नाम से जानते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि प्रतिस्पर्धा तभी होती है जब वस्तु सीमित मात्रा में होती है और उसको प्राप्त करने वालों की संख्या अधिक होती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि दो या दो से अधिक व्यक्तियों में सामान्य परंतु सीमित मात्रा वाले उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किए गए प्रयत्न को प्रतिस्पर्धा कहते हैं।

प्रतिस्पर्धा का अर्थ

1.बोगार्डस, ई .एस.: प्रतिस्पर्धा किसी वस्तु को प्राप्त करने की प्रतियोगिता को कहते हैं जो कि इतनी मात्रा में कहीं नहीं पाई जाती जिससे मांग की पूर्ति हो सके।

2. फिशर, जे. एच.: प्रतिस्पर्धा एक सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें दो या दो अधिक व्यक्ति अथवा समूह समान उद्देश्य प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं।

3. ग्रीन, ए. डब्ल्यूः प्रतिस्पर्धा में दो या अधिक पार्टियां समान उद्देश्य के लिए प्रयत्य करती हैं जिसमें कोई भी एक-दूसरे के साथ सम्मिलन के लिए तैयार नहीं होता है अथवा सम्मिलन की कोई आशा नहीं रखता है।

प्रतिस्पर्धा शब्द अंग्रेजी भाषा Competition का हिंदी रूपांतर है। यदि हम इसका विश्लेषण करें तो इनकी विशेषताएं तथा इसका प्रत्यय स्पष्ट दिखता है।

Competition :

C=Common objective O=Organized efforts

M=Meaningful behaviour P=Preparation separately

E=Expectation of getting himself T=Things in scarcity

I = Interaction less T=Tendency of hate (internal)

I=Internal conflict O=Other feeling

N=No knowledge of others (Some times)

इससे स्पष्ट होता है कि प्रतिस्पर्धा में यद्यपि समान उद्देश्य होता है परंतु सम्मिलित प्रयत्न नहीं होते हैं यदि होते भी हैं तो उसमें स्वार्थ की भावना अधिक होती है। जो व्यवहार उस समय होता है वह अर्थपूर्ण तथा नियोजित होता है। आंतरिक घृणा तथा संघर्ष की स्थिति होती है। 'हम भावना' के स्थान पर 'परभावना' महत्वपूर्ण कार्य करती है। कभीकभी प्रतिस्पर्धा में भाग लेने वाले सभी के विषय मे-ं न तो जानकारी होती है और न ही प्राप्त की जा सकती है।

7.6.2 संघर्ष

संघर्ष उस समय उत्पन्न होता है जब प्रतियोगियों का ध्यान अभीष्ट उद्देश्यों से हटकर व्यक्तियों तथा समूहों पर केंद्रित हो जाता है। प्रतिद्वंद्वी सदैव एक दूसरे को उचित अनुचित सभी साधनों के द्वारा पराजित करने तथा हानि पहुंचाने का प्रयत्न करते हैं। इसके परिणामस्वरूप सामाजिक एकीकरण में बाधा पहुंचती है तथा विघटन की प्रक्रिया कार्य करने लगती है।

संघर्ष का अर्थ एवं परिभाषा

संघर्ष एक सामाजिक प्रक्रिया है जो सभी समाजों में पाई जाती है। इस प्रक्रिया में व्यक्ति अथवा समूह किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए दूसरे व्यक्तियों अथवा समूहों को रोकने का प्रयत्न करते हैं।

परिभाषा

ग्रीन, ए .डब्लू.: संघर्ष किसी अन्य व्यक्ति अथवा व्यक्तियों की इच्छा का जानबूझकर विरोध करने अथवा उसे शक्ति से पूर्ण कराने से संबंधित प्रयत्न है।

गिलिन एंड गिलिन संघर्ष सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें :व्यक्ति अथवा समूह अपने उद्देश्य की प्राप्ति अपने विरोधी को हिंसा अथवा हिंसा के भय द्वारा प्रत्यक्ष चुनौती देकर करते हैं।

संघर्ष प्रतिकूलता के पश्चात प्रारंभ होता है। स्वार्थपरता बढ़ने से व्यक्ति दूसरे को हानि पहुंचाने लगता है। इसके विरोध में दूसरा व्यक्ति अपनी रक्षा करने का प्रयत्न करता है और उसको हानि पहुंचाने से रोकता है। जिससे मनोवैज्ञानिक स्तर पर संघर्ष की रूपरेखा बनती है तथा अवसर आने पर प्रत्यक्ष संघर्ष होने लगता है

7.7 सारांश

इस इकाई में सामाजिक प्रक्रिया के सभी पक्षों की जानकारी प्राप्त की तथा यह जाना कि अंतर्क्रिया के द्वारा कैसे सामाजिक प्रक्रिया का निर्माण होता है और कुछ सामाजिक प्रक्रियाएं समाज के लिए सहयोग का कार्य करती हैं तो वह सहयोगी सामाजिक प्रक्रिया कहलाती हैं और कुछ प्रक्रियाएं समाज के लिए असहयोग का कार्य करती हैं उन्हें असहयोगी प्रक्रियाएं कहते हैं और ये सभी समाज में हमेशा चलती रही हैं सहयोग के रूप में चलने वाली प्रक्रियाएंसहयोग-, व्यवस्थापन, सात्मीकरण, एकीकरण हैं और असहयोग के रूप में चलने वाली प्रक्रियाओं में प्रतिस्पर्धा, संघर्ष, विरोध, विद्रोह आदि हैं।

7.8 अभ्यास प्रश्न

1. सामाजिक प्रक्रिया से आप क्या समझते हो?
2. सामाजिक प्रक्रिया के प्रकारों को बताएं?
3. सामाजिक सहयोगी प्रक्रिया से आप क्या समझते हो?
4. असहयोगी सामाजिक प्रक्रिया से आप क्या समझते हैं?
5. सामाजिक प्रक्रिया के आधारभूत तत्व क्या हैं?
6. सहयोग क्या है?
7. समायोजन से क्या तात्पर्य है?
8. एकीकरण से क्या तात्पर्य है?
9. प्रतिस्पर्धा से आप क्या समझते हो?
10. संघर्ष से क्या तात्पर्य है?

7.9 पारिभाषिक शब्दावली

अमूर्त - निराधार

प्रत्यक्ष संपर्क - एक दूसरे केशारीरिक संपर्क में

संचार - अपनी बात को दूसरे तक पहुंचाना

सहयोग - एक दूसरे के साथ मिलकर काम करना

प्रतिबंध - रोक

प्रत्यक्ष सहयोग - सामने-आमने

व्यवस्थापन - सहयोगका प्रथम चरण

प्रतिस्पर्धा - जब सीमित लक्ष्यों को अनेक लोग प्राप्त करना चाहें।

प्रतिकूलता - विरोध पूर्व स्थिति

7.10 संदर्भ ग्रंथ

1. हार्टन, पी.डी. और हंट, सी.एल.)1972(सोशियोलॉजी, मैकग्रोहिल कोगाकुशा लिमिटेड, टोकियो ।

2. ब्लेन, ई. मर्सर और वांडरर, जे.जे.,)1970 (द स्टडी ऑफ सोसायटी, वर्डस वर्थ पब्लिशिंग कंपनी, बेल मोंट, केलिफोर्निया।

3. पार्क, आर.ई. और बर्गेस, ई .डब्लू.,)1924(इन्ट्रोडक्शन टू द साइंस ऑफ सोशियोलॉजी, यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस, शिकागो।

इकाई-8 सहयोग: अर्थ एवं प्रकार
(Co-operation : Meaning & Types)

इकाई की संरचना

8.0 प्रस्तावना

8.1 उद्देश्य

8.2 सामाजिक सहयोगी प्रक्रियाएं

8.3 सहयोग

8.4 सहयोग का अर्थ एवं परिभाषा

8.5 सहयोग की विशेषताएं

8.6 सहयोग के स्वरुप

8.7 सारांश

8.8 पारिभाषिक शब्दावली

8.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

8.10 संदर्भ ग्रंथ

8.11 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

8.0 प्रस्तावना

मैकाइवर एवं पेज)1985) ने अपनी पुस्तक सोसाइटी में समाज को परिभाषित करते हुए कहा है कि समाज सामाजिक संबंधों के विषय में है और संबंधों के इस जाल को हम समाज कहते हैं । इस प्रकार

समाज 'सामाजिक संबंधों का जाल है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है तथा वह समूह में रहता है। वह अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं नहीं कर सकता है, अतः वह इन संबंधों के माध्यम से दूसरों के सहयोग से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।

एक व्यक्ति के दूसरे व्यक्ति व समूह से तथा एक समूह के दूसरे समूह से अनेक प्रकार के संबंध पाए जाते हैं। इन संबंधों में पिता और पुत्र का, पति और पत्नी का, भाई और भाई का, मित्र और मित्र का, शत्रु और शत्रु का तथा इसी प्रकार के अन्य असंख्य संबंध आते हैं। इन विभिन्न प्रकार के संबंधों के अभाव में समाज की कल्पना नहीं की जा सकती, लेकिन संबंधों के लिए अंतर्क्रिया का होना आवश्यक है। जहां कहीं भी व्यक्तियों का समूह पाया जाता है वहां निश्चित रूप से किसी किसी प्रकार की-न-अंतर्क्रिया या सामाजिक प्रक्रियाएं अवश्य होती हैं। समाज में व्यक्ति की आवश्यकताएं अनंत हैं वह कभी भी पूरी तरह से स्वावलंबी नहीं हो सकता है। विभिन्न व्यक्तियों और समूहों के बीच संबंधों का आधार अंतर्क्रिया ही है। एक व्यक्ति या समूह की दूसरे के साथ अंतक्रिया होती है और वह अंतक्रिया सहयोग, के रुप में हो सकती है।

8.1 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में सहयोगी सामाजिक प्रर्कियाओं ,सहयोग का विस्तृत अध्ययन किया गया है। इस इकाई का प्रमुख उद्देश्य विभिन्न सहयोगी सामाजिक प्रक्रियाओं तथा समाज में उनके महत्व को समझना है।

8.2 सामाजिक सहयोगी प्रक्रियाएं

एक व्यक्ति या समूह की दूसरे के साथ अंतर्क्रिया होती है और वह अंतर्क्रिया सहयोग, संघर्ष , प्रतिस्पर्धा आदि किसी भी रुप में हो सकती है। अंतर्क्रिया के विभिन्न स्वरुपों को ही सामाजिक प्रक्रिया के नाम से पुकारा गया है । जब अंतर्क्रिया में निंरतरता पाई जाती है और साथ ही जब वह किसी निश्चित परिणाम की ओर बढ़ती है तो ऐसी अंतर्क्रिया सामाजिक प्रक्रिया के नाम से जानी जाती है। उदाहरणार्थ लड़के-लड़कियों का आपस में मिलना अंतर्क्रिया है पर बारविवाह हो जाता -दोनों के बीच प्रेम बार मिलने से यदि-हैतो वह एक सामाजिक प्रक्रिया है। उसी तरह यदि कोई व्यक्ति कभी किसी का हल्के-फुल्के ढंग से विरोध करता है तो वह अंतर्क्रिया कही जाएगी, लेकिन यदि वह विरोध जाति या वर्ग संघर्ष का रुप ले लेता है तो वह सामाजिक प्रक्रिया कही जाएगी।

सामाजिक प्रक्रिया का अर्थ स्पष्ट करते हुए मैकाइवर एवं पेज) 1985)के अनुसार,एक प्रक्रिया का अर्थ ' परिस्थिति में पहले से ही मौजूद शक्तियों की क्रियाशीलता के माध्यम से एक निश्चित तरीकों से होने वाले निरंतर परिवर्तन से है।'

8. 3 सहयोग

सामाजिक प्रक्रियाओं में सहयोग सबसे अधिक व्यापक तथा अबाध प्रक्रिया है। यह एक समकालीन क्रिया है जिसे प्रतियोगिता का विपरीतार्थक माना जाता है। वास्तव में प्रतियोगिता की अपेक्षा संघर्ष सहयोग का विपरीतार्थक है। सहयोग का सामान्यतया अर्थ हैस-ामाजिक क्रिया का वह रुप जिसमें दो या दो से अधिक लोग एक ही साध्य की प्राप्ति के लिए साथ टीम के खिलाड़ी अपनी टीम-साथ काम करते हैं जैसे-में सहयोग करते हैं । सहयोग के बिना समाज और राष्ट्र की कल्पना तक नहीं की जा सकती। मनुष्य अपनी विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं के एकाकी प्रयत्नों से नहीं कर सकता। यह सहयोग ही है जो व्यक्तियों को एक साथ मिलकर काम करने और समाज को संगठित बनाने में योग देता है।

8.4 सहयोग का अर्थ एवं परिभाषा

अंग्रेजी भाषा का शब्द Co-operation दो लैटिन शब्दों Co अर्थात् इकट्ठे तथा operation अर्थात् काम करना से मिलकर बना है। इस प्रकार सहयोग सामान्य उद्देश्यों या संभागी हितों की प्राप्ति के लिए संयुक्त् क्रिया है। इसमें दो तत्व निर्मित हैं।) -1) सामान्य उद्देश्य एवं)2)संगठित प्रयत्न। सहयोग एक चेतन प्रक्रिया है जिसमें सहयोग करने वाले व्यक्ति या समूह एकरे के प्रति जागरुक रहते हैदूस-ं।

ग्रीन)1956) के अनुसार 'सहयोग दो या दो से अधिक व्यक्वियों द्वारा कोई कार्य करने या सामान्य रुप से इच्छित किसी लक्ष्य तक पहुचने के लिए किया जाने वाला निरन्तर एवं सामूहिक प्रयास है।'

डेविस)1948) के अनुसार 'एक सहयोगी समूह वह है जो एक ऐसे उद्देश्य की प्राप्ति के लिए मिलजुलकर -कार्य करता है जिसको सभी चाहते है।'

मैकाइवर एवं पेज)1985) ने कहा है कि 'संघर्ष से पार उतरा हुआ सहयोग ही समाज है।'

लेस्ली एवं उनके सहयोगियों)1980) के अनुसार -'वैयक्तिक या सामूहिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए व्यक्तियों या समूहों के द्वारा किया गया साझा प्रयास सहयोग कहा जाता है।'

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि सहयोग सामाजिक अंतर्क्रिया का वह स्वरुप कहा जा सकता है जिसमें दो या दो से अधिक व्यक्ति किसी सामान्य लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए साथसाथ कार्य करते है-ं और इस चेतना से प्रभावित रहते हैं कि वास्तव में वे सब एक हैं। यही स्थिति उनमें ऐच्छिक भावना उत्पन्न करती है जो सहयोग की आधारभूत विशेषताएं है।

(1) दो या दो से अधिक व्यक्तियों अथवा समूहों का होना।

(2) एक सामान्य उद्देश्य का होना।

(3) हम की भावना का पाया जाना।

(4) सहयोग करने वालों का एक दूसरे की प्रति जागरुक होना (चेतन प्रक्रिया)

(5) पारस्परिक सहायता एवं साथसाथ मिलकर काम करने की भावना का पाया जाना।-

(6) लक्ष्य प्राप्ति के लिए निरंतर और संगठित प्रयत्न करना।

8.5 सहयोग की विशेषताएं

सहयोग की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं:

1. दो या दो से अधिक व्यक्तियों अथवा समूह का होना।
2. एक सामान्य उद्देश्य का होना।
3. 'हम की भावना' का पाया जाना।
4. सहयोग करने वालों का एक।(चेतन प्रक्रिया) दूसरे के प्रति जागरूक होना-
5. पारस्परिक सहायता एवं साथभूमिका का पाया जाना। साथ मिलकर काम करने की-
6. लक्ष्य प्राप्ति के लिए निरंतर और संगठित प्रयत्न करना।

सहयोग के लिए अनिवार्य तत्व:

सहयोग के लिए अनिवार्य तत्व हैं:

1. पारस्परिकता
2. समान लक्ष्य
3. सहयोग के लाभ के विषय में चेतना
4. अंतर्क्रिया

5. मध्यस्थता

6. श्रम विभाजन

7. लेन-देन

8. विनिमय और उपहार

9. कुशलता

चॉर्ल्स हॉर्टन कूले के अनुसार सहयोग के लिए समान हित, यथेष्ट बुद्धि, आत्म नियंत्रण तथा संगठन की क्षमता अनिवार्य तत्व है।

8.6 सहयोग के स्वरुप

सामाजिक जीवन में सहयोग के अनेक रुप हैं। मैकाइवर ने उसके दो रुपों का वर्णन किया है-

1. **प्रत्यक्ष सहयोग** -इस श्रेणी में वे क्रियाएं सम्मिलित हैं जिनमें व्यक्ति समान कार्य को मिलकर करते हैं, अर्थात् एक सा कार्य करते हैं। जब दो या दो से अधिक-व्यक्ति अथवा समूह समान उद्देश्य के लिए एकदूसरे के साथ मि-लकर समान कार्य करें, तो इसे प्रत्यक्ष सहयोग कहते हैं । इसमें व्यक्तियों के बीच आमनेसामने के संबंध पाये पाये जाते है-ं। उदाहरण स्वरुप पत्थरों के ढेर को हटाना,आमचुनाव में किसी प्रत्याशी को विजयी बनाने के लिए कुछ लोगों द्वारा मिलकर प्रचार करना, प्रत्यक्ष सहयोग का उदाहरण है। इस प्रकार के सहयोग में आमने की स्थिति कार्यपूर्ति की प्रेरणा प्रदान करती है सामने-या इसमें उन्हें सामाजिक संतुष्टि मिलती है।

2 .**अप्रत्यक्ष सहयोग**इस श्रेणी में वे क्रियाएं सम्मिलित है -ं जिनमें व्यक्ति समान उद्देश्य की पूर्ति हेतु असमान अर्थात् भिन्नभिन्न कार्य करते है-ं। दूसरे शब्दों में इस प्रकार के सहयोग में व्यक्तियों का उद्देश्य तो समान होता है, परंतु वे इस उद्देश्य को असमान कार्यों द्वारा प्राप्त करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति का एक विशिष्ट कार्य होता है। उदाहरणस्वरुप किसी महाविद्यालय या विश्वविद्यालय के विभिन्न कर्मचारियों के बीच पाया जानेवाला सहयोग अप्रत्यक्ष सहयोग का ही उदाहरण है। यहां कर्मचारी अलगअलग कार्य करते -हुए समान उद्देश्य की पूर्ति में सहयोग देते हैं। श्रम विभाजन अप्रत्यक्ष सहयोग का सबसे अच्छा उदाहरण है जो दुर्खीम के द्वारा दिया गया है। वर्तमान समाज में प्रत्यक्ष सहयोग की अपेक्षा अप्रत्यक्ष सहयोग की अधिकता है ,क्योंकि विशेषीकरण वर्तमान औद्योगिक युग की विशेषता है।

ग्रीन ने सहयोग को निम्नलिखित तीन भागों में विभाजित किया है-

1. **प्राथमिक सहयोग**प्राथमिक सहयोग का संबंध प्राथमिक समूहों द्वारा दिए जाने वाले सहयोग से है। इस - प्रकार के सहयोग मेंव्यक्ति एवं समूह के बीच हितों की समरूपता होती है। व्यक्ति अपने उद्देश्यों को समूह के उद्देश्यों से भिन्न नहीं समझता। वह समूह के कल्याण को अपना कल्याण समझता है।

2. द्वितीयक सहयोग इस प्रकार का सहयोग द्वितीयक समूहों-यथा सरकार, उद्योग, ट्रेडयूनियन-, चर्च आदि में पाया जाता है। इस प्रकार के सहयोग में व्यक्ति अपनी स्वार्थपूर्ति की दृ-ष्टि से दूसरों के साथ सहयोग करता है। इस प्रकार के सहयोग में नि:स्वार्थ भाव नहीं होता। व्यक्ति दूसरों को उतना ही सहयोग देता है जितना उसके स्वार्थ की पूर्ति की दृष्टि से आवश्यक हो।

3. तृतीयक सहयोग -जब व्यक्ति अथवा समूह अपने हित को ध्यान में रखकर एक समय विशेष परिस्थितियों के साथ अनुकूलन करना चाहते हैं तो उसे तृतीयक सहयोग कहते हैं। व्यवस्थापनसमायोजन इस/ प्रकार के सहयोग का ही उदाहरण है। जब समाज में विभिन्न समूह एक दूसरे से समायोजन करने के लिए सहयोग करते हैं तब ऐसे सहयोग को तृतीयक सहयोग कहा जाता है। यह सहयोग पूर्णतया अवसरवादी होता है तथा इसकी प्रकृति बहुत ढीली और अस्थिर पाई जाती है। अत : हम कह सकते है कि तृतीयक सहयोग संघर्ष से उत्पन्न सहयोग की स्थिति का नाम है।

ऑगबर्न एवं निमकॉफ)1958) सहयोग के तीन स्वरूपों का उल्लेख करते हैं-

1. सामान्य सहयोग कुछ-व्यक्ति मिलकर जब सामान्य कार्य करने का प्रयत्न करते हैं तब ऐसे सहयोग को सामान्य सहयोग कहा जा सकता है। इस सहयोग में व्यक्तियों की मनोवृतियां सामान्य होती हैं।

2. मित्रवत सहयोगजब हम सामूहिक आन-ंद तथा सुखदूसरे को सहयोग देते है-प्राप्ति के लिए एक-ं तो ऐसे सहयोग को मित्रवत सहयोग कहा जाता है। सहयोग के इस स्वरूप में सामूहिकता का तत्व होने के साथ ही व्यक्तिगत स्वार्थ का भी कुछ अंश आवश्यक रूप में पाया जाता है।

3. सहायता मूलक अथवा विभेदीकृत सहयोग ससहयोग के इ-रूप में पारस्परिक सहायता का तत्व अवश्य पाया जाता है। जब समान उद्देश्य की प्राप्ति के लिए व्यक्ति असमान कार्य करता है तो इसे विभेदीकृत सहयोग कहते हैं ।

8.7 सारांश

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है तथा वह समूह में रहता है। वह अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं नही कर सकता है, अतः वह इन संबंधों के माध्यम से दूसरों के सहयोग पर निर्भर रहता है। अंतर्क्रिया एवं सामाजिक प्रक्रियाओं के माध्यम से अपनी आवश्यकतओं की पूर्ति करता है। इस प्रकार की अंतर्क्रियाएं तथा सामसजिक प्रक्रियाएं निरंतर चलती रहती हैं, जो समाज के अस्तित्व, निरंतरता या परिवर्तन के लिए परम आावश्यक हैं। सामाजिक अंतर्क्रिया का कोई भी ऐसा स्वरूप जो न्यूनाधिक मात्रा में पुनरार्वतक, अभिज्ञेय, तथा निरंतर प्रवाहित होने वाला हो, सामाजिक प्रक्रिया कहलाती है। सामाजिक प्रक्रियाएं दो प्रकार की हाती हैं; सहयोगी तथा असहयोगी। सहयोग, अनुकूलन समायोजन एवं आत्मसातीकरण प्रमुख सहयोगी प्रक्रियाएं हैं। असहयोगी प्रक्रियाओं में प्रतिस्पर्धा तथा संघर्ष प्रमुख हैं।

8.8 पारिभाषिक शब्दावली

सामाजिक अतंर्किया दो या दो से अधिक - व्यक्तियों के एक दूसरे के संपर्क में आने पर किसी भाषा या संकेत के माध्यम से भावनाओं का आदानप्रदान होना।-

चेतन प्रक्रिया वह प्रक्रिया है जिसमें सहयोग करने वाले - व्यक्ति या समूह एकदूसरे के प्रति जाग-रूक रहते हैं।

सहयोग सामाजिक क्रिया का -वह रूप जिसमें दो या दो से अधिक लोग एक ही साध्य की प्राप्ति के लिए साथकाम करते हैं। साथ-

प्राथमिक सहयोगप्राथमिक सहयोग का संबंध प्राथमिक समूहों द्वारा दिए जाने वाले सहयोग से है। -

8.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. सामाजिक सहयोगी प्रक्रियाओं से क्या अभिप्राय है?
2. सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने में सहयोग के महत्व की व्याखया कीजिए।
3. सहयोग के प्रकारों की व्याखया कीजिए।

8.9 संदर्भ ग्रंथ

A.L.Kroeber, Anthropology, New Delhi, Oxford & IBHk~ publishing Co.k (1967)

· Gillin, J.l~ and Gillin, J.P.k~ An Introduction to Sociolgy, Macmillan, New york, (1948)

· Green, A.W, Sociology : An Analysis of life in a Modern Society, New york, Mc Graw- Hill, (1956)

· Leslie , G.R.et al.k Introductory Socilogy, New york, oxford university press, 1980

· Maclver, R.M and page, C.H., Society, New Delhi, Macmillan India Limited, (1985)

· Ogburn, W.Fk and Nimkffo, M.F.k Sociology, The Riberside press Cambridge, Houghton Mijjin company, (1958)

अग्रवाल ,जी ,. के.एस बी पी डी पब्लिकेशंस, आगरा 2009

8.10 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

Leslie , G.R., Introductory Socilogy, New york, oxford university press, 1980

Maclver, R.M and page, C.H., Society, New Delhi, Macmillan India Limited, (1985)

Ogburn, W.F and Nimkffo, M.F.k~ Sociology, The Riberside press Cambridge, Houghton Mijjin company, (1958)

इकाई-9 अनुकूलन: अर्थ एवं प्रकार
(Adaptation: Meaning & Types)

इकाई की संरचना

9.1 उद्देश्य

9.2 अनुकूलन का अर्थ

9.3 अनुकूलन के प्रकार

9.3.1 शारीरिक अनुकूलन

9.3.2 जीवशास्त्री अनुकूलन

9.3.3 सामाजिक अनुकूलन

9.4 सारांश

9.4 पारिभाषिक शब्दावली

9.5 अभ्यासार्थ प्रश्न

9.6 संदर्भ ग्रंथ

9.7 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

9.0 प्रस्तावना

मैकाइवर एवं पेज)1985) ने अपनी पुस्तक सोसाइटी में समाज को परिभाषित करते हुए कहा है कि समाज सामाजिक संबंधों के विषय में है और संबंधों के इस जाल को हम समाज कहते हैं । इस प्रकार समाज 'सामाजिक संबंधों का जाल है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है तथा वह समूह में रहता है। वह अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं नहीं कर सकता है, अतः वह इन संबंधों के माध्यम से दूसरों के सहयोग से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।

एक व्यक्ति के दूसरे व्यक्ति व समूह से तथा एक समूह के दूसरे समूह से अनेक प्रकार के संबंध पाए जाते हैं। इन संबंधों में पिता और पुत्र का, पति और पत्नी का, भाई और भाई का, मित्र और मित्र का, शत्रु और शत्रु का तथा इसी प्रकार के अन्य असंख्य संबंध आते हैं। इन विभिन्न प्रकार के संबंधों के अभाव में समाज की कल्पना नहीं की जा सकती, लेकिन संबंधों के लिए अंतर्क्रिया का होना आवश्यक है। जहां कहीं भी व्यक्तियों का समूह पाया जाता है वहां निश्चित रूप से किसी किसी प्रकार की-न-अंतर्क्रिया या सामाजिक प्रक्रियाएं अवश्य होती हैं। समाज में व्यक्ति की आवश्यकताएं अनंत हैं वह कभी भी पूरी तरह से स्वावलंबी नहीं हो सकता है। विभिन्न व्यक्तियों और समूहों के बीच संबंधों का आधार अंतर्क्रिया ही है। एक व्यक्ति या समूह की दूसरे के साथ अंतक्रिया होती है और वह अंतक्रिया सहयोग,संघर्ष,अनुकूलन,सात्मीकरण, प्रतिस्पर्धा आदि के रुप में हो सकती है। अंतर्क्रिया का आधार हमेशा मधुर संबंध ही नहीं होता बल्कि ईष्या,घृणा भी होता है । उदाहरणार्थ दो व्यक्तियों या दो देशों के बीच संघर्ष सामाजिक अंतर्क्रिया ही है। सर्वप्रथम हम इस अध्याय में सामाजिक अंतर्क्रिया को समझने का प्रयास करेंगे।

9.1 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में सहयोगी सामाजिक प्रर्कियाओं अनुकूलन का विस्तृत अध्ययन किया गया है। इस इकाई का प्रमुख उद्देश्य विभिन्न सहयोगी सामाजिक प्रक्रियाओंतथा समाज में उनके महत्व को समझना है।

9.2 अनुकूलन का अर्थ

संघर्ष एक निरंतर यद्यपि सविराम सामाजिक प्रक्रिया है। परंतु यदि समूह संघर्षरत रहें तो जीवन चल नही सकता। अतएव सामाजिक जीवन को शांतिपूर्ण बनाने के लिए संघर्षो का वियोजन होना चाहिए। समायोजन संघर्षो का वियोजन है जिसका सामान्य अर्थ स्वयं को नए वातावरण के अनुकूल ढालना। सामाजिक वातावरण के साथ हो सकता है। भौतिक वातावरण के साथ सामंजस्य वंशानुगति द्वारा हस्तांतरित जैविक या संरचनात्मक संशोधन के माध्यम से शुरू होता है जिसे अनुकूलन कहा जाता है। अनुकूलन एक जैविक प्रक्रिया है। जबकि समायोजन सामाजिक प्रक्रिया है। वेब लिंक्ड डिक्शनरी ऑफ सोशियोलॉजी के अनुसार 'अनुकूलन वह है जिसके माध्यम से किसी भी प्रकार की सामाजिक व्यवस्था अपने वातावरण में तारतम्यता स्थापित करती है'।

टॉलकॉट पारसंस के अनुसार, यदि व्यक्ति को समाज में बने रहना है तो अनुकूलन चार प्रकार्यात्मक पूर्वाकांक्षित में से एक है जो सभी सामाजिक वयवस्था को संतुष्ट करने के लिए आवश्यक है। समाजशास्त्र

वस्तुतः विभिन्न अंतर्क्रिया की भूमिकाओं की एक व्यवस्था है। अतः एक से अधिक कर्ता मानक व मूल्य के अनुसार परस्पर अंतर्क्रिया करते हैं और यह अंतर्क्रिया निरंतर होती है तो इसे सामाजिक प्रक्रियाएं कहते हैं। अनुकूलन सहयोगी सामाजिक प्रक्रिया की वह अंतर्क्रिया या प्रक्रिया है जिसकी शुरूआत संघर्ष होती है। जब लंबे समय तक संघर्ष चलता रहता है तो उसे विराम देने के लिए सामंजस्य)Adujstment (किया जाता है जहां से अनुकूलन व समायोजन की प्रक्रिया शुरू होती है।व्यक्ति को सामाजिक समंजन करने से पहले शारीरिक एवं जीवशास्त्रीय समंजन करना होता है जो कि अनुकूलन)Adapatationहै (क्योंकिव्यक्ति जब पर्यावरण से ही सामंजस्य नहीं कर पाता तो उसके लिए सामाजिक सामंजस्य कर पाना काफी मुश्किल हो जाता है अतः अनुकूलन को सहयोगी सामाजिक प्रक्रियाओं में बहुत ही महत्वपूर्ण माना गया है।

पारसंस ने सामाजिक व्यवस्था को अपनी पुस्तक द सोशल सिस्टम में विस्तार से बताया है। पारसंस ने अपनी पुस्तक में इस तर्क को रखा है कि क्रियाओं की सामाजिक व्यवस्था को जीवित रखने में चार प्रमुख समस्याएं सामने आती हैं। इन समस्याओं को पारसंस प्रकार्यात्मक पूर्व आवश्यकताएं इसलिए कहते हैं कि इन आवश्यकताओं की पूर्ति न होने पर व्यवस्था का जीवन में संकट में पड़ सकता है। ये पूर्वआवश्यकता-ं व्यवस्था के लिए प्रकार्यात्मक हैं और व्यवस्था के अस्तित्व को बनाए रखने वाली हैं 1.लक्ष्य प्राप्ति, 2.अनुकूलन, 3.यथास्थिति एवं एकीकरण। जिनमें से पारसंस ने अनुकूलन को महत्वपूर्ण माना है।

व्यवस्था को जीवित रखने के लिए, अनुकूलन की प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है। अनुकूलन का मतलब है कि सामाजिक, सांस्कृतिक तथा भौतिक पर्यावरण में जो भी सुविधा उपलब्ध है उनका संग्रहण किया जाए। इस संग्रहण के बाद इन सुविधाओं को इस भांति संपूर्ण व्यवस्था पर फैला दिया जाए कि व्यवस्था अपने लक्ष्य प्राप्ति में सक्षम हो जाए। सामाजिक व्यवस्था की अनुकूलन प्रवृत्ति व्यवस्था की जीवंतता को बताती है। यदि व्यवस्था पर्यावरण में निहित सुविधाओं का उपयोग नहीं करती तो न तो व्यवस्था अपने लक्ष्य प्राप्ति में सफल होगी और न यह जीवित रह सकेगी।

सामान्यतया भारतीय समाज में लिंग संबंध जटिल समस्या के रूप में सामाजिक व्यवस्था को ऊंचा नीचा करते रहे हैं। भारतीय नारी को एक ऐसी छवि के रूप में रखा गया है जो असहाय, पीडित और शोषित है। स्त्रियों की इस सामाजिक स्थिति में यदि क्रांतिकारी बदलाव नहीं आता तो भारतीय सामाजिक व्यवस्था संविधान में निहित अपने लक्ष्यों की प्राप्त नहीं कर सकती। आज जो नारी मुक्ति आंदोलन चला रही है, वह कुछ और न होकर व्यवस्था द्वारा अपनाई गई अनुकूलन की प्रक्रिया है। वास्तव में विकसित देशों की सामाजिक व्यवस्थाओं में इस प्रकार के अनुकूलन पर अंकुश लगा दिया, समझिए उस दिन व्यवस्था का

पतन प्रारंभ हो जाएगा, उसका अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाएगा। इसी कारण पारसंस सामाजिक व्यवस्था की अनुकूलन प्रक्रिया को व्यवस्था की जीवन रेखा कहते हैं।

9.3 अनुकूलन के प्रकार

मैकाइवर तथा पेज)1985) ने अनुकूलन के तीन प्रकारों की विवेचना की हैः 1.शारीरिक अनुकूलन, 2. जीवशास्त्री अनुकूलन, 3.सामाजिक अनुकूलन।

9.3.1 शारीरिक अनुकूलन

शारीरिक अनुकूलन से तात्पर्य है कि व्यक्ति का शरीर जो शारीरिक कमजोरी, धूप से बचाव, स्वच्छ हवा आदि महसूस करता है तो कुछ हानिकारक ,परंतु मानव शरीर धीरेधीरे ऐसा हो जाता है कि वह चीजों - का समंजन करना शुरू कर देता है।

9.3.2 जीवशास्त्री अनुकूलन

जीवशास्त्रीय अनुकूलन को हम इस अर्थ में देख सकते हैं कि प्रत्येक जीव का जीवन को जीने की पर्यावरण में कुछ शर्तें होती हैं जैसे मछली पानी में ही जीवित रहती हैं तथा शेर जंगल में। परंतु कुछ कारणों से मछली को कांच के जार में भी नदी या समुद्र का पर्यावरण उपलब्ध कराया जाता है तो शेर को चिड़ियाघर में जंगल जैसा वातावरण बनाया जाता है तो ऐसी स्थिति में मछली तथा शेर अपनेअपने - पर्यावरण तथा भोजन से समंजन कर लेते हैं।

9.3.3 सामाजिक अनुकूलन

मैकाइवर तथा पेज ने सामाजिक अनुकूलन की भी चर्चा की है जिसे उन्होंने समायोजन के रूप में परिभाषित किया है अर्थात् यदि अनुकूलन सामाजिक जीवन से होता है तो उस स्थिति को समायोजन कहा जाता है जो कि सामाजिक अनुकूलन ही है।

9.4 सारांश

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है तथा वह समूह में रहता है। वह अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं नही कर सकता है, अतः वह इन संबंधों के माध्यम से दूसरों के सहयोग पर निर्भर रहता है। अंतर्क्रिया एवं सामाजिक प्रक्रियाओं के माध्यम से अपनी आवश्यकतओं की पूर्ति करता है। इस प्रकार की

अंतर्क्रियाएं तथा सामसजिक प्रक्रियाएं निरंतर चलती रहती हैं, जो समाज के अस्तित्व, निरंतरता या परिवर्तन के लिए परम आावश्यक हैं। सामाजिक अंतर्क्रिया का कोई भी ऐसा स्वरूप जो न्यूनाधिक मात्रा में पुनरार्वतक, अभिज्ञेय, तथा निरंतर प्रवाहित होने वाला हो, सामाजिक प्रक्रिया कहलाती है। सामाजिक प्रक्रियाएं दो प्रकार की हाती हैं; सहयोगी तथा असहयोगी। सहयोग, अनुकूलन समायोजन एवं आत्मसातीकरण प्रमुख सहयोगी प्रक्रियाएं हैं। असहयोगी प्रक्रियाओं में प्रतिस्पर्धा तथा संघर्ष प्रमुख हैं।

9.5 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. अनुकूलन से क्या अभिप्राय है?
2. सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने में अनुकूलन के महत्व की व्याखया कीजिए।
3. अनुकूलन के प्रकारों की व्याखया कीजिए।

9.6 संदर्भ ग्रंथ

A.L.Kroeber, Anthropology, New Delhi, Oxford & IBHk~ publishing Co.k (1967)

· Gillin, J.l~ and Gillin, J.P.k~ An Introduction to Sociolgy, Macmillan, New york, (1948)

· Green, A.W, Sociology : An Analysis of life in a Modern Society, New york, Mc Graw- Hill, (1956)

· Leslie , G.R.et al.k Introductory Socilogy, New york, oxford university press, 1980

· Maclver, R.M and page, C.H., Society, New Delhi, Macmillan India Limited, (1985)

· Ogburn, W.Fk and Nimkffo, M.F.k Sociology, The Riberside press Cambridge, Houghton Mijjin company, (1958)

अग्रवाल ,जी ,. के.एस बी पी डी पब्लिकेशंस, आगरा 2009

9.7 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

Leslie , G.R., Introductory Socilogy, New york, oxford university press, 1980

Maclver, R.M and page, C.H., Society, New Delhi, Macmillan India Limited, (1985)

Ogburn, W.F and Nimkffo, M.F.k~ Sociology, The Riberside press Cambridge, Houghton Mijjin company, (1958)

इकाई-10 समायोजन: अर्थ एवं प्रकार
(Accommodation: Meaning & Types)

इकाई की संरचना

10.0 प्रस्तावना

10.1 उद्देश्य

10.2 समायोजन का अर्थ

10.3 समायोजन की प्रकृतिविशेषताए/ं

10.4 समायोजन के प्रकार

10.5 सारांश

10.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

10.7 संदर्भ ग्रंथ

10.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

10.0 प्रस्तावना

एक व्यक्ति के दूसरे व्यक्ति व समूह से तथा एक समूह के दूसरे समूह से अनेक प्रकार के संबंध पाए जाते हैं। इन संबंधों में पिता और पुत्र का, पति और पत्नी का, भाई और भाई का, मित्र और मित्र का, शत्रु और शत्रु का तथा इसी प्रकार के अन्य असंख्य संबंध आते हैं। इन विभिन्न प्रकार के संबंधों के अभाव में समाज की कल्पना नहीं की जा सकती, लेकिन संबंधों के लिए अंतर्क्रिया का होना आवश्यक है। जहां कहीं भी व्यक्तियों का समूह पाया जाता है वहां निश्चित रूप से किसी किसी प्रकार की-न-अंतर्क्रिया या सामाजिक प्रक्रियाएं अवश्य होती हैं। समाज में व्यक्ति की आवश्यकताएं अनंत हैं वह कभी भी पूरी तरह से स्वावलंबी नहीं हो सकता है। विभिन्न व्यक्तियों और समूहों के बीच संबंधों का आधार अंतर्क्रिया ही है। एक व्यक्ति या समूह की दूसरे के साथ अंतक्रिया होती है और वह अंतक्रिया सहयोग,संघर्ष,अनुकूलन,सात्मीकरण, प्रतिस्पर्धा आदि के रुप में हो सकती है। अंतर्क्रिया का आधार हमेशा

मधुर संबंध ही नहीं होता बल्कि ईष्या,घृणा भी होता है । उदाहरणार्थ दो व्यक्तियों या दो देशों के बीच संघर्ष सामाजिक अंतर्क्रिया ही है। सर्वप्रथम हम इस अध्याय में सामाजिक अंतर्क्रिया को समझने का प्रयास करेंगे। सामाजिक प्रक्रिया का अर्थ स्पष्ट करते हुए मैकाइवर एवं पेज) 1985)के अनुसार,एक ' प्रक्रिया का अर्थ परिस्थिति में पहले से ही मौजूद शक्तियों की क्रियाशीलता के माध्यम से एक निश्चित तरीकों से होने वाले निरंतर परिवर्तन से है।'

गिलिन के अनुसार) 1948) 'सामाजिक प्रक्रिया से हमारा तात्पर्य अंतर्क्रिया करने के उन तरीकों से जिन्हें हम व्यक्तियों एवं समूहों के बीच संबंधों के समय देखते हैं । अथवा जब प्रचलित जीवनविधियों के - परिवर्तन में व्यवधान पहुंचाते हैं।

10.1 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में सहयोगी सामाजिक प्रर्कियाओं समायोजन का विस्तृत अध्ययन किया गया है। इस इकाई का प्रमुख उद्देश्य विभिन्न सहयोगी सामाजिक प्रक्रियाओंतथा समाज में उनके महत्व को समझना है।

10.2 समायोजन का अर्थ

समाज में सहयोगी सामाजिक प्रक्रियाओं के साथसाथ असहयोगी सामाजिक प्रक्रियाए-ही-ं भी चलती रहती हैं जिनमें प्रतियोगिता एवं संघर्ष प्रमुख हैं। संघर्ष एक निरंतर यद्यपि सविराम सामाजिक प्रकिया है। परंतु यदि समूह संघर्षरत रहें तो जीवन चल नहीं सकता। व्यक्ति या समूह की यह स्वाभाविक वृति रही है कि वे संघर्ष को पसंद नहीं करते हैं। अतएव, सामाजिक जीवन को शांतिपूर्ण बनाने के लिए संघर्षों का वियोजन होना चाहिए। समायोजन संघर्षों का वियोजन है। जिसका सामान्य अर्थ स्वयं को नए वातावरण के अनुकूल ढालना।

समायोजन एक सहयोगी सामाजिक प्रक्रिया है। समायोजन समाज में व्यक्ति या समूह को जोड़नेवाली प्रक्रिया है। यह संघर्ष से सहयोग की ओर बढ़ने का प्रथम चरण है। जब भी दो विरोधी पक्ष प्रतिस्पर्द्धा या संघर्ष समाप्त करके सहयोग करना चाहते हैं। तो सर्वप्रथम वे एक-दूसरे से समायोजन स्थापित करते हैं। समनर समायोजन को 'विरोधपूर्ण समायोजन' (Antagonistic co-operationके नाम से संबोधित (करते हैं।

समायोजन में संघर्ष के बीज अवश्य ही मौजूद होते हैं। इस प्रकार समायोजन द्वारा संघर्ष को कुछ समय के लिए टाला जा सकता है। समायोजन की कुछ परिभाषाएं निम्नलिखित हैं-:

- मैकाइवर एवं पेज)1985) के अनुसार, 'समायोजन शब्द विशेषकर उस प्रक्रिया को अभिव्यक्त करता है जिसके द्वारा मानव अपने पर्यावरण के साथ संतुलन स्थापित करता है।''
- ऑगबर्न एवं निमकॉफ)1985) के अनुसार, 'समायोजन वह शब्द है जिसका प्रयोग समाजशास्त्री आक्रामक व्यक्तियों या समूह द्वारा किए जाने वाले सामंजस्य के लिए करते हैं।'
- गिलिन एवं गिलिन)1948) के अनुसार, 'समायोजन वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा प्रतियोगी एवं संघर्षरत व्यक्ति एवं समूह प्रतिस्पर्द्धा, विरोध या संघर्ष के कारण उत्पन्न कठिनाइयों को दूर करने के लिए एकदूसरे के साथ अपने संबंधों का सामंजस्य कर लेते हैं।-'

इस प्रकार समायोजन संघर्षरत व्यक्तियों या समूहों को जोड़ने की प्रक्रिया का नाम है। जब कभी भी समाज में कोई तनाव या संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है तो उसे समाप्त करने की बात भी सोची जाती है। जब समाज या व्यक्ति तनावपूर्ण या संघर्ष की स्थिति से बाहर निकलता है तो उस स्थिति को समायोजन कहा जाता है।

10.3 समायोजन की प्रकृतिविशेषताए/ं

समायोजन की विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर इसकी प्रकृति का उल्लेख निम्न प्रकार से कर सकते हैं-

1.अधिकांशतः अचेतन प्रक्रिया -

समायोजन की प्रक्रिया अधिकांशतः अचेतन रूप से चलती है। कई बार जब समायोजन जानबूझकर किया - जाता है तो वह एक चेतनप्रक्रिया होती है, किंतु हम जीवन में अचेतन रूप से कई परिस्थितियों एवं व्यक्तियों से समायोजन करते रहते हैं।

2.निरंतरता-

समायोजन की प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है।

3.सार्वभौमिक-

यह प्रक्रिया धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक सभी क्षेत्रों में देखी जा सकती है। यह एक सार्वभौकिम प्रक्रिया है।

4. प्रेम व घृणा का मिश्रण –

समायोजन में प्रेम एवं घृणा का मिश्रण पाया जाता है। जब समायोजन करने वाले व्यक्ति एवं समूह अपनी पुरानी बातों को याद करते हैं तो एकदूसरे के प्रति उनमें घृणा- पैदा होती है, किंतु वर्तमान में वे सहयोग चाहते है, अतः प्रेम का प्रदर्शन भी करते हैं।

5. संघर्ष का परिणाम-

समायोजन संघर्ष का परिणाम है। कोई भी संघर्षकारी पक्ष अधिक समय तक संघर्ष नहीं कर सकता है, उसे सामंजस्य और आवश्यकतानुसार सहयोग करना ही होता है। इसलिए समायोजन को सहयोग की ओर बढ़ने का प्रथम चरण कहा गया है।

10.4 समायोजन के प्रकार

गिलिन व गिलिन के अनुसार समायोजन दो प्रकार के होते हैं -

1. समन्वित समायोजन- यदि दो समान हैसियत वाले व्यक्तियों के बीच संघर्ष या प्रतियोगिता होती है और यदि उसे समाप्त करने के लिए कोई एक स्थिति बनती है तो उसे समन्वित समायोजन कहा जाएगा।

2. **उच्च कोटि-अधीनस्थ समायोजन -** यदि दो असमान हैसियत वाले व्यक्तियों के बीच संघर्ष या प्रतियोगिता की स्थिति बनती है और ऐसी स्थिति में यदि कोई समझौता होता है तो उसे हम उच्च कोटि-अधीनस्थ समायोजन कहेंगे।

गिलिन एवं गिलिन ने समायोजन की निम्नांकित पद्धतियों का उल्लेख किया है -

1. **शक्ति या बल प्रयोग -** बल प्रयोग मानसिक एवं शारीरिक दोनों हो सकता है। इसमें हमेशा कमजोर पक्ष शक्तिशाली पक्ष के सामने झुकता है। कमजोर पक्ष अपने को नष्ट होने से बचाने की भावना से शक्तिशाली पक्ष की इच्छा एवं शर्तो के अनुसार कार्य करने को तैयार हो जाता है।

2. **समझौता -** जब दोनों पक्षों की शक्ति समान होती है और उनमें से कोई भी दूसरे को पराजित नहीं कर पाता तो वे समझौते द्वारा समायोजन कर लेते हैं। समझौते में दोनों पक्षों को एकदूसरे - की कुछबातें माननी पड़ती हैं और कुछ झुकना पड़ता है। 'समग्र या कुछ नहीं' की सहजवृति कुछ की प्राप्ति के लिए कुछ को त्यागने को सहमत हो जाती है।

3. **मत परिवर्तन** -मत परिवर्तन की प्रक्रिया वह होती है जिसमें दोनों विरोधी पक्षों में से एक पक्ष यह मान लेता है कि वह गलत था और दूसरा पक्ष सही था। परिणामस्वरूप वह दूसरे पक्ष की बात मान लेता है और नए दृष्टिकोण को अपना लेता है। इस प्रक्रिया में विरोधी पक्ष अपने विचारों को त्याग देता है और नए विचार धारण कर लेता है।

4. **सहिष्णुता -** सहिष्णुता समायोजन का वह रूप है जिसमें मतभेद या झगड़े को हल नहीं किया जाता बल्कि प्रत्यक्ष संघर्ष को टाल दिया जाता है। इसमें दोनों पक्ष एक दूसरे के- विचारों एवं भावनाओं की कद्र करते हैं एवं एक दूसरे के प्रति सद्भाव एवं सहानुभूति का- भाव रखते हैं। दोनों पक्ष के विचार भिन्न भिन्न हो सकते हैं परंतु पारस्परिक सहिष्णुता के द्वारा दोनों एकदूसरे के निकट आ सकते - हैं।

5. **युक्तिकरण -** युक्तिकरण के माध्यम से समायोजन का तरीका यह है कि इसमें व्यक्ति अपनी गलती स्वीकार नहीं करता बल्कि अपने आचरण या व्यवहार को ठीक प्रमाणित करने के लिए व समुचित बहाने या सफाई पेश करता है। इस प्रकार, व्यक्ति अपनी योग्यता की कमी को स्वीकार नहीं करता बल्कि अपनी हार का कारण भेदभाव बता कर अपने व्यवहार को उचित सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। केवल व्यक्ति ही नहीं, समूह भी ऐसे काल्पनिक आधारों पर अपने कामों का औचित्य प्रमाणित करने का प्रयत्न करते हैं।

6. **अनुकुलन -** समायोजन के लिए कभीकभी एक सामान्य कार्यक्रम तैयार करने की आवश्यकता - होती है । जिसे दोनों पक्ष स्वेच्छा से स्वीकार करते हैं। इस सामान्य कार्यक्रम में दोनों पक्षों की बुनियादी बातों को यथासंभव समाविष्ट किया जाता है। यह एक तरह परिस्थिति के साथ समझौता है।

10.5 सारांश

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है तथा वह समूह में रहता है। वह अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं नही कर सकता है, अतः वह इन संबंधों के माध्यम से दूसरों के सहयोग पर निर्भर रहता है। अंतर्क्रिया एवं सामाजिक प्रक्रियाओं के माध्यम से अपनी आवश्यकतओं की पूर्ति करता है। इस प्रकार की

अंतर्क्रियाएं तथा सामसजिक प्रक्रियाएं निरंतर चलती रहती हैं, जो समाज के अस्तित्व, निरंतरता या परिवर्तन के लिए परम आावश्यक हैं। सामाजिक अंतर्क्रिया का कोई भी ऐसा स्वरूप जो न्यूनाधिक मात्रा में पुनरार्वतक, अभिज्ञेय, तथा निरंतर प्रवाहित होने वाला हो, सामाजिक प्रक्रिया कहलाती है। सामाजिक प्रक्रियाएं दो प्रकार की हाती हैं; सहयोगी तथा असहयोगी। सहयोग, अनुकूलन समायोजन एवं आत्मसातीकरण प्रमुख सहयोगी प्रक्रियाएं हैं। असहयोगी प्रक्रियाओं में प्रतिस्पर्धा तथा संघर्ष प्रमुख हैं।

10.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

2. सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने में समायोजन के महत्व की व्याखया कीजिए।

4. समायोजन के प्रकारों की व्याखया कीजिए।

5. समायोजन से क्या अभिप्राय है?

10.7 संदर्भ ग्रंथ

A.L.Kroeber, Anthropology, New Delhi, Oxford & IBHk~ publishing Co.k (1967)

· Gillin, J.l~ and Gillin, J.P.k~ An Introduction to Sociolgy, Macmillan, New york, (1948)

· Green, A.W, Sociology : An Analysis of life in a Modern Society, New york, Mc Graw- Hill, (1956)

· Leslie , G.R.et al.k Introductory Socilogy, New york, oxford university press, 1980

· Maclver, R.M and page, C.H., Society, New Delhi, Macmillan India Limited, (1985)

· Ogburn, W.Fk and Nimkffo, M.F.k Sociology, The Riberside press Cambridge, Houghton Mijjin company, (1958)

अग्रवाल ,जी ,. के.एस बी पी डी पब्लिकेशंस, आगरा 2009

10.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

Leslie , G.R., Introductory Socilogy, New york, oxford university press, 1980

Maclver, R.M and page, C.H., Society, New Delhi, Macmillan India Limited, (1985)

Ogburn, W.F and Nimkffo, M.F.k~ Sociology, The Riberside press Cambridge, Houghton Mijjin company, (1958)

इकाई-11 आत्मसात्यीकरण:अर्थ एवं विशेषताऐं
(Assimilation: Meaning & characteristics)

इकाई की संरचना

11.0 प्रस्तावना

11.1 उद्देश्य

11.2 आत्मसातीकरण का अर्थ

11.3 आत्मसातीकरण की विशेषताएं

11.4 आत्मसातीकरण में सहायक कारक

11.5 समायोजन और आत्मसातीकरण में अंतर

11.6 सारांश

11.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

11.8 संदर्भ ग्रंथ

11.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

11.0 प्रस्तावना

समाज में व्यक्ति की आवश्यकताएं अनंत हैं जिनकी पूर्ति के लिए वह दूसरे व्यक्तियों के संपर्क में आता है तथा समाज के नियमों के अनुसार उनसे व्यवहार करता है। समाजशास्त्रीय शब्दावली में इसे सामाजिक अंतर्क्रिया कहते हैं अंतर्क्रिया में दो व्यक्ति या समूह आपस में क्रिया करते हैं। वास्तव में देखा जाए तो समाज विभिन्न प्रस्थितियों में बंटा हैं। अतः अंतर्क्रिया दो प्रस्थितियों के बीच होने वाली क्रिया होती है। अंतर्क्रिया किसी न किसी प्रकार के संबंधों को जन्म देती है। अंतर्क्रिया का आधार हमेशा मधुर संबंध ही नहीं होता बल्कि ईर्ष्या, घृणा भी होता है। उदाहरणार्थ, दो व्यक्तियों या दो देशों के बीच संघर्ष सामाजिक

अंतर्क्रिया ही है। अतः क्रिया का निरंतर रूप से होना ही सामाजिक प्रक्रिया कहलाता है। अंतर्क्रिया के विभिन्न स्वरूपों को भी हम सामाजिक प्रक्रिया कहते हैं।

11.2 आत्मसातीकरण का अर्थ

इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग अमेरिकन प्रजातीय संबंध अनुसंधान के संदर्भ में राबर्ट पार्क द्वारा किया गया था। चूंकि अमेरिका में विभिन्न संस्कृति के लोग आकर बस गए हैं। वहां के समाजशास्त्रियों द्वारा यह जानने का प्रयास किया गया कि विभिन्न नृजाति समूह के लोग किस प्रकार अमेरिकी समाज एवं संस्कृति को स्वीकार कर रहे हैं। अपने अध्ययनों के आधार पर राबर्ट पार्क ने बताया कि आत्मसातीकरण की प्रक्रिया चार चरणों से गुजरती है, जिसे उन्होंने 'प्रजातीय संबंधों का चक्र' Race Relations Cycleकहा है-

संपर्क)Contact(, प्रतियोगिता)Competition(, समायोजन)Accomodation(एवं आत्मसात)Assimilation(

एक लंबे समय तक आत्मसात का प्रयोग एक तरफी प्रक्रिया के लिए किया जाता रहा है। समाजशास्त्रियों के चिंतन में यही प्रमुख रहा कि किस प्रकार कोई बाहरी पहले सांस्कृतिक समूह नए परिवेश में अपने आपको समायोजित करता है। लेकिन वर्तमान समाजशास्त्र में इस शब्द का प्रयोग दो तरफी प्रक्रिया के लिए होता है। समाजशास्त्रियों के लिए महत्वपूर्ण यह है कि दो भिन्न किस्म के सांस्कृतिक समूह किस प्रकार नई परिस्थिति में अपने आपको समायोजित करते हैं। यही कारण है कि आत्मसात का प्रयोग संस्कृतिग्रहण, Acculturation के पर्यायवाची शब्द के रूप में किया जा रहा है।

आत्मसात सामाजिक एवं सांस्कृतिक एकीकरण की प्रक्रिया है। संघर्ष से एकीकरण की ओर बढ़ने का प्रथमचरण व्यवस्थापन है और आत्मसात अंतिम चरण। लंबे समय तक व्यवस्थापन करने पर - आत्मसात का मार्ग तैयार होता है।

इस प्रकार आत्मसात संस्कृतिकरण की प्रक्रिया है जिसमें विभिन्न संस्कृतियां एक संस्कृति में संयुक्त हो जाती हैं। एक व्यक्ति या समूह द्वारा अन्य व्यक्ति या समूह में अपने अस्तित्व को विलीन कर देना ही आत्मसात कहलाता है। इसमें एक संस्कृति खोती है तो दूसरी लाभ प्राप्त करती है। हिंदू समाज में पत्नी द्वारा अपना अस्तित्व पूर्णतः पति में समाहित कर देना भी आत्मसात का उदाहरण है।

अपने अध्ययनों के आधार पर राबर्ट पार्क)1950) ने बताया है कि आत्मीकरण की प्रक्रिया चार चरणों से गुजरती है। जिसे उन्होंने प्रजातीय संबंधों का चक्र कहा है स -ंपर्क, प्रतियोगिता, समायोजन एवं सात्मीकरण से तात्पर्य उस प्रक्रिया से होता है जिसके द्वारा एक खास समूह के लोग लंबे समय तक एक अन्य समूह के लोगों के बीच रहने के बाद उनकी जीवनशैली को इस तरह अपना लेते है कि उन दोनों - के बीच कोई फर्क नहीं रह जाता है। निम्नांकित परिभाषाएं सात्मीकरण की प्रक्रिया की महत्वपूर्ण विशेषताओं को दर्शाती हैं।

ऑगबर्न एवं निमकॉफ)1958) के अनुसार 'सात्मीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा कभी एकदूसरे - से भिन्न रह चुकेव्यक्ति या समूह एक दूसरे जैसे हो जाते हैं और अपने हितों व रूपरंग के आधार पर एकदूसरे से तादात्म्य स्थापित कर लेते है-ं।'

गिलिन एवं गिलिन)1948) ने सात्मीकरण को स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'सात्मीकरण या आत्मसात एक प्रगतिशील प्रक्रिया है जिसमें व्यक्तियों और समूहों के बीच मतभेद कम होते हैं तथा क्रिया, मनोवृति और मानसिक क्रिया में सामान्य हित के प्रति आदर के साथ समानता में वृद्धि होती है। जब व्यक्तियों एवं समूहों में आत्मसात हो जाता है तो उनके बीच पाए जाने वाले मतभेद समाप्त हो जाते हैं और उद्देश्यों और हितों में समानता आ जाती है।'

पार्क एवं बर्गेस के अनुसार,'सात्मीकरण एक दूसरे में बैठने और मिल जाने की एक प्रक्रिया है जिसमें- व्यक्ति और समूह दूसरे व्यक्तियों या समूहों की स्मृतियों, भावनाओं और रूखों को अपना लेते हैं और उनके अनुभव तथा इतिहास में हिस्सा लेकर एक सामान्य सांस्कृतिक जीवन में शामिल हो जाते हैं।'

इस प्रकार जब दो विभिन्न संस्कृतियों का संपर्क होता है, तो प्रारंभ में उन दोनों के बीच पारस्परिक संघर्ष की भावना पाई जाती है, परंतु वे धीरेधीरे एक दूसरे- के सांस्कृतिक तत्वों को आत्मसात कर लेती हैं। सात्मीकरण में दो विभिन्न समूह केवल समझौता ही नहीं करते अथवा एक दूसरे के साथ मिलकर चलने को अन्यथा सहमत ही नहीं होते, अपितु वह एकदूसरे के समान इतना अधिक हो जाते है कि पृथक - समूह के रूप में उनकी पहचान कठिन हो जाती है। समाजीकरण की भांति सात्मीकरण भी सीखने की प्रक्रिया है परंतु इस प्रक्रिया का आरंभ तभी होता है जब व्यक्ति अन्य संस्कृतियों के संपर्क में आता है।

11.3 आत्मसातीकरण की विशेषताएं

1. आत्मसातीकरण एक सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रक्रिया है।

2. आत्मसातीकरण एक प्रक्रिया एवं अवस्था दोनों ही है।

3. आत्मसातीकरण एक मंद गति से चलने वाली प्रक्रिया है।

4. यह खुले या मुक्त् समाजों में अधिक पाई जाती है।

5. आत्मसातीकरण एक वैयक्तिक एवं सामाजिक प्रक्रिया है।

6. आत्मसातीकरण की प्रक्रिया एकीकरण को बढ़ावा देती है।

7. आत्मसातीकरण एक संगठनकारी प्रक्रिया है।

आत्मसातीकरण केवल एक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है -

आत्मसातीकरण का सर्वोत्तम उदाहरण उन विदेशियों का है जो अपनी संस्कृति को छोड़कर उस देश की संस्कृति को अपना लेते हैं जहां वे जाकर रहने लगते है। परन्तु सात्मीकरण को केवल इसी क्षेत्र तक सीमिति रखना गलत होगा। सात्मीकरण अन्य अवस्थाओं में भी होता है। उदाहरण के लिए, जब बच्चे बड़े हो जाते हैं और व्यवहार की विधि सीख लेते हैं तो उनका वयस्क समाज मे सात्मीकरण हो जाता है। गोद लिए हुए बच्चे कभीसहन के न-पिता के रहन-कभी अपने गोद लेने वाले माता-ए ढंगों को इस प्रकार पूरी तरह अपना लेते हैं कि उनमें पूर्ववर्ती घर के प्रभाव बिल्कुल ही समाप्त हो जाते हैं। धार्मिक क्षेत्र में धर्म परिवर्तन द्वारा एक धर्म के अनुयायी दूसरे धर्म में लाए जाते हैं। चूंकि सात्मीकरण एक सामाजिक प्रक्रिया है, अतः यह सामान्य समूह जीवन का लक्षण है, न कि किसी विशेष प्रकार के समूहों का।

11.4 आत्मसातीकरण में सहायक कारक

1. **सहिष्णुता-** जब विभिन्न व्यक्तियों एवं समूहों में धार्मिक, आर्थिक एवं राजनीति क्षेत्र में सहिष्णुता होती है तो सात्मीकरण के अधिक अवसर होते हैं। सहिष्णुता के कारण उनमें संचार एवं मिलना जुलना संभव हो पाता है।-

2. **समीपता एवं सामाजिक संपर्क -** आत्मसातीकरण उसी दशा में अधिक होता है जब व्यक्ति या समूह एकदूसरे के समीप निवास करते हो-ं तथा उनमें निरंतर प्रत्यक्ष सामाजिक संपर्क बना हुआ हो।

3. **समान आर्थिक अवसर-** यदि दो व्यक्तियों एवं समूहों की आर्थिक स्थिति एवं उद्देश्यों में समानता हो तो उनमें आत्मसातीकरण शीघ्र होगा। इसके विपरीत जिनके आर्थिक हित टकराते हों, उनमें आत्मसातीकरण के बजाय संघर्ष की संभावना अधिक रहेगी।

4. **सांस्कृतिक समानता** - जिन संस्कृतियों में समानता के तत्व अधिक होते हैं, उनमें भी आत्मसातीकरण के अवसर मौजूद रहते हैं, अर्थात् जिन संस्कृतियों की प्रथाओं, खानपान-, वेशभूषा-, धर्म, भाषा आदि में समानता पाई जाती है उनसे संबंधित लोगों में संपर्क होने पर आत्मसातीकरण शीघ्र हो जाता है।

5. **मिश्रण** - मिश्रण से तात्पर्य यहां रक्त मिश्रण से है। जब विभिन्न प्रजातियों एवं रक्त समूहों से संबंधित व्यक्तियों में परस्पर विवाह हो जाता है तो रक्त मिश्रण हो जाता है। समान प्रजाति के लोगों में भिन्न प्रजातियों की तुलना में सात्मीकरण अधिक होता है। प्रजाति मिश्रण संस्कृतियों के मिश्रण को बढ़ावा देता है।

6. **समान समस्याएं** - जिन लोगों या समूहों की समान आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं सामाजिक समस्याएं होती हैं, वे उन्हें हल करने के लिए परस्पर सहयोग करते हैं। उनमें समान विचार एवं भावनाएं पैदा होती हैं जो आत्मसातीकरण में सहायक होती हैं ।

7. **समान भाषा** - एक ही भाषा का प्रयोग करने वाले लोगों में भी विभिन्न भाषा बोलने वालों की तुलना में आत्मसातीकरण अधिक होता है।

11.5 समायोजन और आत्मसातीकरण में अंतर

1. आत्मसातीकरण स्थायी है, समायोजन अस्थायी –

आत्मसातीकरण समायोजन का एक रूप है और अंतर्समूह भेदभावों में समंजन पैदा करने का एक अधिक अच्छा तथा स्थायी ढंग है। अपने आसपास के समूह से भिन्न सांस्कृतिक समूह कालांतर में लगभग - स्थायी आधार पर उसमें समाविष्ट हो जाता है। परंतु समायोजन में समूहों के पारस्परिक अंतर स्थायी रूप से समाप्त नहीं होते, जैसा कि हम समायोजन के विभिन्न रूपों के संबंध में पढ़ चुके हैं।

2. आत्मसातीकरण मंद प्रक्रिया है, समायोजन अचानक प्रक्रिया है –

आत्मसातीकरण मंद तथा निरंतर प्रक्रिया है। जबकि समायोजन अचानक तथा कई बार क्रांतिकारी प्रक्रिया है। एक बड़े समुदाय में जब छोटा समुदाय आ मिलता है तो कालांतर में वह उसमें धुलमिल जाता है। - धीरे होती है-यह प्रक्रिया धीरे, कारण कि इसमें अधिक तथा सूक्ष्म परिवर्तन निहित होते हैं। दूसरी ओर समायोजन तुरंत हो जाता है तथा इसमें क्रांतिकारी परिवर्तन भी तुरंत हो सकते हैं।

3. आत्मसातीकरण अचेतन प्रक्रिया है, समायोजन विचारशील है –

तीसरे, आत्मसातीकरण की प्रक्रिया किसी समूह की सोचीसमझी तथा सचेत कोशिश के बिना होती है। - वास्तव में आत्मसातीकरण के अंदर व्यक्ति अथवा समूह इस बात का ध्यान किए बिना कि क्या हो रहा है, दूसरी संस्कृति में ढल जाते हैं जिसका उन्हें पूर्वज्ञान नहीं होता है। दूसरी ओर समायोजन संबंधित पक्षों द्वारा किसी समझौते पर पहुंचने के लिए सोचेसमझे प्रयत्नों का परिणाम होता है। इस प्रकार यह एक - सचेत प्रक्रिया है।

11.6 सारांश

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है तथा वह समूह में रहता है। वह अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं नही कर सकता है, अतः वह इन संबंधों के माध्यम से दूसरों के सहयोग पर निर्भर रहता है। अंतर्क्रिया एवं सामाजिक प्रक्रियाओं के माध्यम से अपनी आवश्यकतओं की पूर्ति करता है। इस प्रकार की अंतर्क्रियाएं तथा सामसजिक प्रक्रियाएं निरंतर चलती रहती हैं, जो समाज के अस्तित्व, निरंतरता या परिवर्तन के लिए परम आावश्यक हैं। सामाजिक अंतर्क्रिया का कोई भी ऐसा स्वरूप जो न्यूनाधिक मात्रा में पुनरार्वतक, अभिज्ञेय, तथा निरंतर प्रवाहित होने वाला हो, सामाजिक प्रक्रिया कहलाती है। सामाजिक प्रक्रियाएं दो प्रकार की हाती हैं; सहयोगी तथा असहयोगी। सहयोग, अनुकूलन समायोजन एवं आत्मसातीकरण प्रमुख सहयोगी प्रक्रियाएं हैं। असहयोगी प्रक्रियाओं में प्रतिस्पर्धा तथा संघर्ष प्रमुख हैं।

19.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने में आत्मसातीकरण के महत्व की व्याखया कीजिए।
2. समायोजन और आत्मसातीकरण में अंतर स्पष्ट कीजिए।
3. आत्मसातीकरण की व्याखया कीजिए।
4. आत्मसातीकरण से क्या अभिप्राय है?

11.8 संदर्भ ग्रंथ

A.L.Kroeber, Anthropology, New Delhi, Oxford & IBHk~ publishing Co.k (1967)

Gillin, J.l~ and Gillin, J.P.k~ An Introduction to Sociolgy, Macmillan, New york, (1948)

Green, A.W, Sociology : An Analysis of life in a Modern Society, New york, Mc Graw- Hill, (1956)

Leslie , G.R.et al.k Introductory Socilogy, New york, oxford university press, 1980

Maclver, R.M and page, C.H., Society, New Delhi, Macmillan India Limited, (1985)

Ogburn, W.Fk and Nimkffo, M.F.k Sociology, The Riberside press Cambridge, Houghton Mijjin company, (1958)

अग्रवाल ,जी ,. के.एस बी पी डी पब्लिकेशंस, आगरा 2009

11.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

Leslie , G.R., Introductory Socilogy, New york, oxford university press, 1980

Maclver, R.M and page, C.H., Society, New Delhi, Macmillan India Limited, (1985)

Ogburn, W.F and Nimkffo, M.F.k~ Sociology, The Riberside press Cambridge, Houghton Mijjin company, (1958)

इकाई-12 प्रतियोगिता: अर्थ, विशेषताऐं एवं स्वरूप
(Competition: Meaning, characteristics & forms)

इकाई की रूपरेखा

12.0 प्रस्तावना
12.1 उद्देश्य
12.2 सामाजिक प्रक्रिया से अभिप्राय
12.2.1 सामाजिक प्रक्रिया के आवश्यक तत्व
12.2.2 सामाजिक प्रक्रिया के प्रकार
12.4 प्रतियोगिता या प्रतिस्पर्धा
12.5 प्रतियोगिता की विशेषताएं
12.6 प्रतियोगिता के प्रकार
12.7 प्रतियोगिता के स्वरूप
12.8 सारांश
12.9 बोध प्रश्न
12.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

12.0 प्रस्तावना

सामाजिक प्रक्रिया समाजशास्त्र की बहुत महत्वपूर्ण अवधारणा है। सामाजिक प्रक्रिया के द्वारा ही समाज में निरंतरता आती है। सामाजिक प्रक्रियाओं के अंतर्गत व्यक्तियों के बीच में अंतर्क्रियाएं होती हैं। मनुष्य अपने स्वभाव, आवश्यकता तथा भूमिकाओं के कारण समाज में अनेक क्रियाएं करता है। सामाजिक क्रियाओं को करते समय वह दूसरों के संपर्क में आता है और संपर्क के माध्यम से संचार होता है। अतः अंतर्क्रियाओं के बीच में संपर्क और संचार होता है और यही अंतर्क्रिया समाज को गति देती है।

सामाजिक संबंधों, सामाजिक व्यवस्था और स्वयं समाज को भलीभा-ंति समझने के लिए सामाजिक प्रक्रिया एवं इनके प्रमुख स्वरूपों को समझना आवश्यक है। सामाजिक प्रक्रिया या अंतर्क्रिया के अनेक प्रकार हैं। कुछ अंतर्क्रियाओं द्वारा व्यक्ति एक दूसरे के निकट आते हैं और मिलजुल कर काम करते हैं। दूसरी अंतर्क्रियाएं व्यक्तियों अथवा समूहों के बीच दूरी को बढ़ाती हैं। इस इकाई में सामाजिक प्रक्रिया - प्रतियोगिता का अध्ययन किया जाएगा।

12.1 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अंतर्गत सामाजिक प्रक्रिया और उसके विभिन्न स्वरूपों का अध्ययन किया जाएगा। सामाजिक प्रक्रिया के विभिन्न स्वरूप सहयोग, प्रतियोगिता और संघर्ष हैं। सामाजिक प्रक्रिया और उनके विभिन्न स्वरूपों को समझना और उनका अध्ययन करना ही इस इकाई का मुख्य उदेश्य है। इस इकाई में निम्नलिखित बिंदुओं का समावेश किया गया है-:

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप

- सामाजिक प्रक्रिया की अवधारणा समझ सकेंगे।
- सामाजिक प्रक्रिया के मुख्य तत्व का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- सामाजिक प्रक्रिया के विभिन्न स्वरूप के बारे में समझ सकेंगे।
- प्रतियोगिता की अवधारणा, परिभाषाएं, विशेषताएं और प्रकार समझ सकेंगे।

12.2 सामाजिक प्रक्रिया का अभिप्राय

समाज सामाजिक संबंधों की एक क्रमबद्ध प्रणाली है। प्रत्येक समाज में व्यक्ति अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूसरे व्यक्तियों के संपर्क में आते हैं तथा समाज के नियमों के अनुसार व्यवहार करते हैं। किसी भी क्रिया का निरंतर रूप से होना ही प्रक्रिया कहलाता है।

सामाजिक प्रक्रिया अंतर्क्रिया से प्रारंभ होती है। अंतर्क्रिया के विभिन्न स्वरूपों को सामाजिक प्रक्रिया कहा जाता है। यह अंतर्क्रिया दो या अधिक व्यक्तियों से होती है। व्यक्ति और समूह में होती है या समूह और समूह में होती है। जब अंतर्क्रिया में निरंतरता पाई जाती है और साथ ही जब वह किसी निश्चित परिणाम की ओर बढ़ती है तो ऐसी अंतर्क्रिया सामाजिक प्रक्रिया के नाम से जानी जाती है। सामाजिक जीवन के बीच लगातार लोग एक दूसरे के निकट आते हैं, आपस में सहयोग करते हैं, अपने हितों के लिए प्रतिस्पर्धा करते हैं और अपने अधिकारों के लिए संघर्ष भी करते हैं।

गिलिन एवं गिलिन के अनुसार, 'सामाजिक प्रक्रियाओं से हमारा तात्पर्य अंतर्क्रिया के उन तरीकों से है, जिन्हें हम, जब व्यक्ति और समूह मिलते हैं और संबंधों की व्यवस्था स्थापित करते हैं या जब जीवन के प्रचलित तरीकों में गड़बड़ होती है, देख सकते हैं'।

बीसेंज तथा बीसेंज के अनुसार,'अंतर्क्रिया के विभिन्न स्वरूप ही सामाजिक प्रक्रिया कहलाते हैं।'

मेक्स लर्नर के अनुसार,'सामाजिक प्रक्रिया के मूल में इस प्रकार गति, परिवर्तन, प्रवाह और समाज के सतत परिवर्तित होने का अभिप्राय होता है।'

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि सामाजिक प्रक्रिया सामाजिक जीवन में सदैव बनी रहने वाली और साथ ही परस्पर संबंधित घटनाओं का वह क्रम है जो विशिष्ट परिणाम या परिवर्तन को जन्म देने के लिए उत्तरदायी है।

12.2.1 सामाजिक प्रक्रिया के आवश्यक तत्व

सामाजिक प्रक्रिया अंतर्क्रिया से प्रारंभ होती है। अंतर्क्रिया सामाजिक प्रक्रिया की बुनियादी इकाई है।

जोनाथन टर्नर के अनुसार अंतर्क्रिया वह 'सामाजिक प्रक्रिया है जो व्यक्तियों को पारस्परिक रूप से प्रभावित करती है और ऐसा करने में लोग संयुक्त क्रियाओं के प्रतिमान में नई क्रियाओं की शुरूआत करते हैं, उनमें परिवर्तन लाते हैं या इन क्रियाओं को बंद कर देते हैं। मतलब हुआ जन्म के बाद ही लोगों में अंतर्क्रिया प्रारंभ हो जाती है''

अतः अंतर्क्रिया व्यक्तियों को पारस्परिक रूप से प्रभावित करने की क्रिया को कहते हैं। अंतर्क्रिया दो या अधिक व्यक्तियों, व्यक्ति और समूह या समूह और समूह में होती है। समाज और संस्कृति दोनों ही सामाजिक अंतर्क्रिया की उपज हैं।

अंतर्क्रिया में दो तत्व महत्वपूर्ण हैं -

- उत्तेजना
- अनुक्रिया

अंतर्क्रिया के लिए दोनों ही तत्व महत्वपूर्ण हैं क्योंकि अंतर्क्रिया दो पक्षीय प्रक्रिया है। मान लीजिए, आप आपके अध्यापक से कक्षा में आने के लिए अनुमति मांगते हैं और अध्यापक आपको अंदर आने के लिए कहते हैं। यहां आपका अध्यापक से पूछना अध्यापक के लिए उत्तेजना हुआ और आपके लिए अनुक्रिया।

अंतर्क्रिया के तत्वसामाजिक अंतर्क्रिया के लिए स ंपर्क तथा संचार का होना आवश्यक है। गिलिन और गिलिन ने अंतर्क्रिया के दो आवश्यक तत्व बताए हैं -

- सामाजिक संपर्क
- संचार

किसी भी समाज में जब अंतर्क्रिया होती है तो लोगों के बीच सामाजिक संपर्क होते हैं और इसके बाद में संचार होता है। सामाजिक अंतर्क्रिया की इन दशाओं का उल्लेख यहां किया गया है -

सामाजिक संपर्कः संपर्क सामाजिक अंतर्क्रिया की पूर्वापेक्षा है। सामान्य बोलचाल की भाषा में दो व्यक्तियों का पास आना संपर्क कहलाता है। आंतरिक अर्थ के अभाव में भौतिक निकटता से ही संपर्क नहीं बनता है।

किंग्सले डेविस के अनुसार संपर्क का स्वरूप तभी सामाजिक होता है, जब संबद्ध व्यक्तियों के लिए उसमें कोई अर्थ हो और उनमें पारस्परिक प्रत्युत्तर की भावना हो। दूसरे शब्दों में मानवीय संपर्क और अंतर्क्रिया स्वयं संचारात्मक हैं।

संपर्क दो प्रकार के हो सकते हैं -

- प्रत्यक्ष संपर्कप्राथमिक संपर्क/
- अप्रत्यक्ष संपर्क द्वैतीयक संपर्क /

प्रत्यक्ष संपर्क या प्राथमिक संपर्क में अंतर्क्रिया करने वाले एकरहते हैं या दूसरे के शारीरिक संपर्क में- संपर्क में उनका आमना सामना होता है, जिसे दो व्यक्ति अभिवादन करते समय या उसके बाद वार्तालाप करते समय आदि। इस तरह के संपर्क में एकदूसरे पर इ-ंद्रियों का प्रभाव पड़ता है और यहां इंद्रियों का प्रत्यक्ष प्रयोग किया जाता है।

अप्रत्यक्ष या द्वैतीयक संपर्क में अंतर्क्रिया करने वाले व्यक्तियों का एकसामने रहना -दूसरे के आमने- आवश्यक नहीं है। वे पत्र, टेलीफोन या अन्य साधनों द्वारा संपर्क करते हैं। द्वैतीयक संपर्कों में इंद्रियों का प्रभाव कम हो जाता है और व्यक्ति इंद्रियों से केवल देखता और सुनता मात्र है। इसी से संपर्क का ज्ञान होता है।

सामाजिक संपर्क सकारात्मक भी हो सकता है और नकारात्मक भी। सकारात्मक संपर्क उसे कहते हैं जो सहयोगी अंतर्क्रिया को जन्म देता है, जैसे समझौता, सहयोग, सात्मीकरण आदि। उदाहरण के लिए, यदि आप अपने अध्यापक से समाजशास्त्र पढ़ने के लिए संपर्क करते हैं, तो यह सकारात्मक संपर्क होगा। नकारात्मक संपर्क सकारात्मक संपर्क का विपरीत है। यह संपर्क असहयोगी अंतर्क्रिया को जन्म देता है, जैसे संघर्ष, प्रतिस्पर्धा आदि। उदाहरण के लिए यदि आप अपने विवाह के लिए किसी लड़कीलड़के को - देखने जाएं और उससे विवाह करने की सहमति न दें तो वह नकारात्मक संपर्क होगा।

संचार - अंतर्क्रिया का दूसरा महत्वपूर्ण तत्व संचार है। केवल संपर्क होने से ही सामाजिक क्रिया का उद्देश्य प्राप्त नहीं होता। संपर्क को सफल बनाने के लिए संचार का होना आवश्यक है। संचार में एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के व्यवहारों से दूसरे व्यक्ति के विचार अथवा भावना के विषय में अनुमान लगाता है।

डेविस के अनुसार संपर्क का स्वरूप प्रतीकात्मक और अर्थपूर्ण होता है। एक व्यक्ति के विचारों अथवा भावना को दूसरे व्यक्ति तक भाषा के द्वारा सबसे आसानी से पहुंचाया जा सकता है। भाषा के द्वारा किया गया संचार या तो बोल कर अथवा लिखकर होता है। लेकिन अलिखित और अवाचित संचार भी चिह्नों और प्रतीकों द्वारा संभव है। जन्म दिन के अवसर पर दिया गया फूल शुभकामना को व्यक्त करता है, आदि। संचार तब ही हो सकता है, जब वह -

- अर्थपूर्ण हो।
- अंतर्क्रिया करने वाले व्यक्ति एकदूसरे के प्रति जागरूक हो-ं।
- अंतर्क्रिया करने वाले व्यक्ति एकदूसरे के उद्देश्यपूर्ण व्यवहार को समझे-ं।

गिलिन और गिलिन ने संचार के दो प्रकार बतलाए हैं -

- पूर्ण संचार
- अपूर्ण संचार

पूर्ण संचार तब होता है जब अंतर्क्रिया करने वाले व्यक्ति जो कुछ कहना चाहते हैं वह उसी अर्थ में समझ लिया जाए जिस अर्थ में वह कहना चाहते हैं। जब अंतर्क्रिया करने वाले व्यक्ति परस्पर अपनी बातों को नहीं समझ पाएं तो वह अपूर्ण संचार होता है।

उदाहरण के लिए यदि आपसे आपके अध्यापक आपकी कॉपी मांगते हैं और आप समझ जाते हैं कि सर कॉपी मांग रहे हैं तो यह पूर्ण संचार होता है। इसके अतिरिक्त यदि आपकी कक्षा में एक जर्मन प्रोफेसर आकर जर्मन भाषा में भाषण देना शुरू करते हैं जो आप नहीं समझ पाते तो यह अपूर्ण संचार होगा।

12.4 प्रतियोगिता या प्रतिस्पर्धा

प्राकृतिक व मानव जीवन दोनों में ही प्रतिस्पर्धा घटित होती हैवास्तव में मनुष्य की आवश्यकताएं ,

अनंत हैंप्रतियोगिता या प्रतिस्पर्धा तब पैदा होती है, जब सीमित लक्ष्यों को अनेक लोग प्राप्त करना चाहते हैं। प्रतिस्पर्धा के दौरान व्यक्तियों या समूह में कम या अधिक मात्रा में एकद्वेष -दूसरे के प्रति ईर्ष्या- आदि के भाव पाए जाते हैं। इस कारण से इसे असहगामी प्रक्रिया माना जाता है। प्रतिस्पर्धा में सभी व्यक्ति एकदूसरे को पीछे रख कर आगे बढ़ना चाहते हैं-, अपने उद्देश्य को पाना चाहते हैं। अनियंत्रित प्रतिस्पर्धा जहां एक ओर विघटन पैदा करती है, वहीं दूसरी ओर यह व्यक्तियों, समूहों और राष्ट्रों को प्रगति की ओर ले जाने, अपनी स्थिति को ऊंची उठाने और कुशलतापूर्वक प्रयत्न करने की प्रेरणा भी देती है।

गिलिन और गिलिन के अनुसार -'प्रतिस्पर्धा वह सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें प्रतिद्वंद्वी व्यक्ति या समूह किसी जनता के समर्थन तथा प्राथमिकता के माध्यम से लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं और उस व्यक्ति या समूह को अपने हितों के समर्थन में अनुरोध करते हैं ,न कि अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए हिंसा या इससे भय का प्रयोग।'

बीसेंज और बीसेंज के अनुसार -'प्रतिस्पर्धा दो या दो से अधिक व्यक्तियों के समान उद्देश्य जो इतने सीमित हैं कि सब उसके भागीदार नहीं बन सकते, को पाने के प्रयत्न को कहते हैं'।

ग्रीन ने लिखा है -'प्रतिस्पर्धा में दो या दो से अधिक व्यक्ति या समूह समान लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं जिससे कोई भी दूसरों के साथ बांटने के लिए न तो तैयार होता है और न ही इसकी अपेक्षा की जाती है।'

उपर्युक्त परिभाषाओं से ज्ञात होता है कि प्रतिस्पर्धा या प्रतियोगिता दो या दो से अधिक व्यक्तियों या समूहों के बीच किसी सीमित वस्तु, अधिकार या सेवा को प्राप्त करने के लिए प्रथा या नियम के अंतर्गत किया गया प्रयत्न है।

12.5 प्रतियोगिता की विशेषताएं

1. प्रतियोगिता दो या दो से अधिक व्यक्तियों या समूहों के बीच किसी सीमित वस्तु, अधिकार या सेवा जिसकी पूर्ति मांग की तुलना में कम है, की प्राप्ति का प्रयत्न है।

2. प्रतियोगिता में कुछ निश्चित नियम होते हैं। यह नियम लक्ष्यों को प्राप्त करने के साधनों को सीमित कर देते हैं।

3. प्रतियोगिता में किसी तीसरे पक्ष का होना आवश्यक है जिसके समर्थन को प्राप्त करने का प्रयत्न दोनों पक्षों के द्वारा किया जाता है। दो व्यक्तियों के लिए तीसरा पक्ष ग्राहक, परीक्षार्थियों के लिए परीक्षक तीसरा पक्ष है, आदि।

4. प्रतियोगिता सामान्यतः एक अवैयक्तिक प्रक्रिया है। आई.एस.ए.या आर .एस.ए. या माध्यमिक बोर्ड की परीक्षाओं में बैठने वाले परीक्षार्थियों की संख्या हजारों-लाखों में होती है जो अपनेअपने तरीकों से - दूसरे के बारे में कुछ भी जानकारी साधारणतः नहीं होती।-परीक्षा की तैयारी करते हैं और जिन्हें एक

5. प्रतियोगिता की एक अत्यंत महत्वपूर्ण विषेशता अहिंसात्मक तरीके से लक्ष्य प्राप्ति का प्रयत्न है।

6. प्रतियोगिता सामान्यतः एक अचेतन प्रक्रिया है। इसका तात्पर्य है कि प्रतिस्पर्धी एकदूसरे के - प्रयत्नों के प्रति सामान्यतः जागरूक नहीं होते हैं। वे तो अपने स्वयं के उद्देश्यों और प्रयत्नों के प्रति ही जागरूक होते हैं।

7. प्रतियोगिता एक निरंतर प्रक्रिया है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा पाई जाती है।

8. प्रतियोगिता एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रतिस्पर्धा प्रत्येक समाज, स्थान एवं काल में मौजूद रहती है।

9. प्रतियोगिता की प्रकृति परिवर्तनशील होती है। इसमें सफलता भी मिल सकती है, महत्वाकांक्षाओं का विकास भी होता है, इसमें असफलता भी प्राप्त हो सकती है तथा प्रतिस्पर्धा करने वालों में तनाव व संघर्ष भी हो सकता है।

12.6 प्रतियोगिता के प्रकार

गिलिन और गिलिन ने प्रतिस्पर्धा के दो प्रमुख प्रकार बताए हैं -

- वैयक्तिक प्रतियोगिता
- अवैयक्तिक प्रतियोगिता

1. **वैयक्तिक** प्रतियोगिता- गिलिन और गिलिन इसे चेतन प्रतिस्पर्धा भी कहते हैं। इसमें प्रतिस्पर्धा दूसरे को-करने वाले एकव्यक्तिगत रूप से भलीभा-ंति जानते हैं। दो प्रतिद्वंद्वी प्रेमियों में किसी युवती के प्रेम को प्राप्त करने के लिए होने वाली प्रतिस्पर्धा वैयक्तिक या चेतन प्रतिस्पर्धा का उदाहरण है।

2. **अवैयक्तिक** प्रतियोगिता- गिलिन और गिलिन इसे अचेतन प्रतिस्पर्धा भी कहते हैं। इसमें प्रतियोगी एकपहचा-दूसरे को जानते-नते नहीं हैं। वे अपने लक्ष्यों एवं प्रयत्नों के प्रति ही जागरूक होते हैं, न कि अन्य प्रतियोगियों के प्रति। भारतीय प्रशासनिक सेवा एवं विभिन्न प्रतियोगी परीक्षाएं इसका उदाहरण हैं। यह प्रतिस्पर्धा व्यक्तिगत उद्देश्यों को लेकर होती है।

12.7 प्रतियोगिता के स्वरूप

गिलिन और गिलिन ने प्रतियोगिता के चार स्वरूपों का उल्लेख किया है जो इस प्रकार हैं:

- आर्थिक प्रतियोगिता
- सांस्कृतिक प्रतियोगिता
- भूमिका या प्रस्थिति के लिए प्रतियोगिता
- प्रजातीय प्रतियोगिता

1. **आर्थिक प्रतियोगिता-** आर्थिक प्रतिस्पर्धा उत्पादन व व्यापार के क्षेत्र में होती है। व्यापारियों और उद्योगपतियों के बीच यह प्रतिस्पर्धा पाई जाती है। वे अधिक लाभ कमाने के लिए एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा करते हैं।

2. **सांस्कृतिक प्रतियोगिता**- जब दो संस्कृतियों के लोग एकदूसरे के संपर्क में आते हैं- तो सांस्कृतिक प्रतिस्पर्धा प्रारंभ होती है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक अपनी संस्कृति को श्रेष्ठ समझकर उसे दूसरों पर थोपने का प्रयास करता है। प्रोटेस्टेंट व कैथोलिक धर्म को मानने वाले लोगों में भी इस प्रकार की प्रतिस्पर्धा है। दोनों ही धर्मों के लोग अपनेअपने धर्मों को ज-्यादा ऊंचा दिखाने में लगे रहते हैं।

3. **भूमिका या प्रस्थिति के लिए प्रतियोगिता** सामाजिक स्तरीकरण के प्रत्येक मनुष्य- श्रृंखलाक्रम में अपनी प्रस्थिति ऊंची रखना चाहता है। वह इसके लिए प्रयास भी करता है। व्यक्ति आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि क्षेत्रों में उच्च प्रस्थिति प्राप्त करने या महत्वपूर्ण मानी जाने वाली भूमिका निभाने के लिए एकसरे के साथ प्रतिस्पर्धा करते हैं। कलादू-, साहित्य और संगीत में भी इस प्रकार की प्रतिस्पर्धा देखने को मिलती है।

4. **प्रजातीय प्रतियोगिता-** जब हम मनुष्यों को उनकी आनुवंशिक शारीरिक विशेषताओं के आधार पर अलग करते हैं तो हमारा तात्पर्य प्रजातीय से होता है। यद्यपि शारीरिक आधार पर कोई प्रजाति दूसरी प्रजाति से ऊंची या नीची नहीं होती, फिर भी प्रजाति के आधार पर स्तरीकरण की भावना आज भी संसार के विभिन्न भागों में देखने को मिलती है। प्रजाति के आधार पर भेदभाव की भावना के शारीरिक कारणों की अपेक्षा, सांस्कृतिक कारण अधिक प्रभावशाली तरीके से कार्य कर रहे हैं।

अमेरिका में श्वेत और नीग्रो लोगों तथा अफ्रीका में अंग्रेजों तथा मूल निवासियों के बीच पाई जाने वाली प्रतिस्पर्धा प्रजातीय प्रतिस्पर्धा के अंतर्गत ही आती है। गिलिन और गिलिन द्वारा बताए गए प्रतिस्पर्धा के उपर्युक्त चार स्वरूपों के अतिरिक्त भारत में एक अन्य स्वरूप जातीय प्रतिस्पर्धा भी देखने को मिलती है। यहां विभिन्न जातियां सामाजिक संस्तरण की प्रणाली में ऊपर उठने का प्रयत्न करती हैं ,जिसे डॉ . श्रीनिवास ने संस्कृतिकरण के नाम से पुकारा है।

12.8 सारांश

इस इकाई में अंतर्क्रिया, प्रक्रिया की अवधारणा, सामाजिक प्रक्रिया के रूपों, सहगामी सामाजिक प्रक्रिया जैसे सहयोग और असहगामी सामाजिक प्रक्रिया जैसे प्रतिस्पर्धा और संघर्ष पर विचार किया गया है।

यह सभी प्रक्रियाएं प्रत्येक समाज में किसी न किसी रूप में विद्यमान रहती है। सामाजिक प्रक्रियाएं ही समाज को निरंतरता और गति प्रदान करती है। मानव समाज में सहयोग का स्थान प्राथमिक है। सहयोग के बिना मानवीय अस्तित्व के विषय में सोच भी नहीं सकते हैं। लेकिन कोई कितना भी सहयोगी समूह हो, उसमें संघर्ष के कोई न कोई लक्षण अवश्य मिलेंगे। इसी प्रकार, किसी भी संघर्ष में सहयोग या व्यवस्थापन की संभावनाएं अवश्य छिपी रहती हैं। इसी प्रकार प्रत्येक प्रतिस्पर्धा में भी सहयोग के तत्व छिपे रहते हैं।

किसी भी सामाजिक घटना का अध्ययन अंतर्क्रिया के विभिन्न स्वरूपों को दृष्टिगत रख कर करना आवश्यक है। सामाजिक संबंधों, सामाजिक व्यवस्था और स्वयं समाज को भलीभा-ंति समझने के लिए सामाजिक प्रक्रिया एवं इनके प्रमुख स्वरूपों को समझना आवश्यक है।

20.9 बोध प्रश्न

1. प्रतियोगिता की परिभाषा और विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
2. प्रतियोगिता की व्याख्या कीजिए।
3. प्रतियोगिता के स्वरूपों पर प्रकाश डालिए।

20.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. गिलिन, जेपी.और गिलिन जे .एल .; कल्चरल सोशियोलॉजी, मैकमिलन, न्यूयार्क, 1954, पृ .488.
2. डेविस, के,; ह्यूमन सोसायटी, मैकमिलन, न्यूयॉर्क, 1960, पृ .149.
3. मैकाइवर, आर.एच.और पेज सी .एम.; सोसायटी, मैकमिलन, लंदन, 1959, पृ.63.

4. ग्रीन, डब्ल्यू.ए.; सोशियोलॉजी, एन एनालिसिसि ऑफ माडर्न सोसायटी, मेकैग्राओ हिल, 1952, पृ .61.

5. दोशी एस.एल., जैन पी.सी.; समाजशास्त्र नई दिशाएं, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, जयपुर, 2000, पृ .333

6. सिंघी, नरेंद्र कुमार, गोस्वामी वसुधाकर; समाजशास्त्र विवेचन, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 2003, पृ .214.

.7 ,अग्रवालजी ,. के.एस बी पी डी पब्लिकेशंस, आगरा 2009

इकाई-13 संघर्ष :अर्थ, विशेषताऐं एवं स्वरूप

(Conflict: meaning, characteristics & forms)

इकाई की रूपरेखा

13.0 प्रस्तावना
13.1 उद्देश्य
13.5 संघर्ष
13.5संघर्ष की विशेषताएं
13.5.2 संघर्ष के स्वरूप
13.6 सार संक्षेप
13.7 बोध प्रश्न
13.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

13.0 प्रस्तावना

सामाजिक प्रक्रिया समाजशास्त्र की बहुत महत्वपूर्ण अवधारणा है। सामाजिक प्रक्रिया के द्वारा ही समाज में निरंतरता आती है। सामाजिक प्रक्रियाओं के अंतर्गत व्यक्तियों के बीच में अंतर्क्रियाएं होती हैं। मनुष्य अपने स्वभाव, आवश्यकता तथा भूमिकाओं के कारण समाज में अनेक क्रियाएं करता है। सामाजिक क्रियाओं को करते समय वह दूसरों के संपर्क में आता है और संपर्क के माध्यम से संचार होता है। अतः अंतर्क्रियाओं के बीच में संपर्क और संचार होता है और यही अंतर्क्रिया समाज को गति देती है।

सामाजिक संबंधों, सामाजिक व्यवस्था और स्वयं समाज को भलीभा-ंति समझने के लिए सामाजिक प्रक्रिया एवं इनके प्रमुख स्वरूपों को समझना आवश्यक है। सामाजिक प्रक्रिया या अंतर्क्रिया के अनेक प्रकार हैं। कुछ अंतर्क्रियाओं द्वारा व्यक्ति एक दूसरे के निकट आते हैं और मिलजुल कर काम करते हैं। दूसरी अंतर्क्रियाएं व्यक्तियों अथवा समूहों के बीच दूरी को बढ़ाती हैं। इस इकाई में तीन प्रमुख सामाजिक प्रक्रिया सहयोग -, प्रतियोगिता और संघर्ष का अध्ययन किया जाएगा।

13.1 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अंतर्गत संघर्ष और उसके विभिन्न स्वरूपों का अध्ययन किया जाएगा। सामाजिक प्रक्रिया के विभिन्न स्वरूप सहयोग, प्रतियोगिता और संघर्ष हैं। संघर्ष और उनके विभिन्न स्वरूपों को समझना और उनका अध्ययन करना ही इस इकाई का मुख्य उदेश्य है। इस इकाई में निम्नलिखित बिंदुओं का समावेश किया गया है-:

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप

- संघर्ष की अवधारणा समझ सकेंगे।
- संघर्ष के मुख्य तत्व का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- संघर्ष के विभिन्न स्वरूप के बारे में समझ सकेंगे।
- संघर्ष की विशेषताएं और प्रकार समझ सकेंगे।

13.2 संघर्ष की अवधारणा

समाज में एक ओर जहां सहयोग देखने को मिलता है, वहां दूसरी ओर संघर्ष भी पाया जाता है। संघर्ष को एक मौलिक और सार्वभौमिक सामाजिक प्रक्रिया माना गया है जो प्रत्येक समाज और काल में कम या अधिक मात्रा में पाया जाता है। पूर्णतः संघर्षरहित समाज का पाया जाना असंभव है। संघर्ष - । यह जीवन की एक वास्तविकता हैसामाजिक संबंधों में हर समय मौजूद रहता है, इसे अस्वाभाविक नहीं माना जाता।

जब कोई व्यक्ति या समूह अपने किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए विरोधी को नुकसान पहुंचाने, नष्ट करने, उसके हितों को चोट पहुंचाने या उसके कार्यों में बाधा डालने का प्रयत्न करता है तो इस स्थिति को संघर्ष के नाम से पुकारा जाता है।

डब्ल्यू ग्रीन के अनुसार - 'संघर्ष दूसरे या दूसरों की इच्छा के विरोध, प्रतिकार या बलपूर्वक रोकने के विचारपूर्वक प्रयत्न को कहते हैं।'

गिलिन और गिलिन के अनुसार -'संघर्ष वह सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति अथवा समूह अपने लक्ष्यों की प्राप्ति विरोधी को प्रत्यक्ष हिंसा की चुनौती देकर करते हैं।'

मैकाइवर एवं पेज के अनुसार -'सामाजिक संघर्ष में वे सभी क्रियाकलाप सम्मिलित हैं जिनमें मनुष्य - दूसरे के विरूद्ध लड़ते या विवाद करते हैं।-किसी भी उद्देश्य के लिए एक'

स्पष्ट है कि अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए बलप्रयोग या हिंसा की धमकी द्वारा दूसरों की इच्-छाओं को दबाना या उसके उद्देश्यों की प्राप्ति के मार्ग में बाधा उपस्थित करना ही संघर्ष है।

किंग्सले डेविस के अनुसार जहां प्रतिस्पर्धियों का ध्यान प्रतिस्पर्धा से हटकर प्रतिद्वंद्वियों पर केंद्रित हो जाता है, वहीं संघर्ष प्रारंभ हो जाता है।

13.3 संघर्ष की विशेषताएं

1. संघर्ष के लिए दो या दो से अधिक व्यक्तियों अथवा समूह का होना आवश्यक है जो एकदूसरे के -हितों को हिंसा की धमकी, आक्रमण, विरोध या उत्पीड़न के माध्यम से चोट पहुंचाने की कोशिश करते हैं।

2. संघर्ष एक चेतन प्रक्रिया है, जिसमें संघर्षरत व्यक्तियों या समूहों को एक दूसरे की-गतिविधियों का ध्यान रहता है।

3. संघर्ष एक वैयक्तिक प्रक्रिया है। संघर्ष में ध्यान लक्ष्य पर केंद्रित न होकर प्रतिद्वंद्वियों पर केंद्रित हो जाता है।

4. संघर्ष एक अनिरंतर प्रक्रिया है। संघर्ष सदैव नहीं चलता बल्कि रूकरूक कर चल-ता है। इसका कारण यह है कि संघर्ष के लिए शक्ति और साधन जुटाने पड़ते हैं जो किसी भी व्यक्ति या समूह के पास असीमित मात्रा में नहीं पाए जाते।

5. संघर्ष एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है। संघर्ष किसी न किसी रूप में प्रत्येक समाज और प्रत्येक काल में कम या अधिक मात्रा में अवश्य पाया जाता है।

13.4 संघर्ष के स्वरूप

संघर्ष के विभिन्न प्रकारों में गिलिन और गिलिन द्वारा बताए हुए निम्नलिखित पांच स्वरूप प्रमुख हैं:

1. वैयक्तिक संघर्ष आपसी हितों के टकराने से -व्यक्ति-व्यक्ति के बीच होने वाला संघर्ष वैयक्तिक संघर्ष के अंतर्गत आता है। वैयक्तिक संघर्ष की प्रकृति निरंतर नहीं होती, कभी संघर्ष चलता है तो कभी बंद हो जाता है तथा फिर चल सकता है। जब तक संघर्ष सकता है। जब तक संघर्ष की परिणति सहयोग में न हो जाए यह चलता रहता है।

2. **प्रजातीय संघर्ष -** जब आनुवांशिक शारीरिक भेदभाव के कारण हमव्यक्तियों का वर्गीकरण करते हैं तो उसे हम प्रजाति कहते हैं। प्रजातीय संघर्ष समूहगत होता है। जब दो भिन्न प्रजातियां एकदूसरे के -ष कहते हैं। इस प्रकार संपर्क में आती हैं तो कई बार उनमें संघर्ष भड़क उठता है। इसे ही प्रजातीय संघ के संघर्ष अमेरिका में श्वेत और नीग्रो प्रजातियों और अफ्रीका में श्वेत और श्याम प्रजातियों के लोगों के बीच पाए जाते हैं।

3. **वर्ग संघर्ष**- वर्ग संघर्ष इतिहास में आरंभ से हो रहा है। कार्ल मार्क्स ने लिखा है कि- 'आज तक अस्तित्व में रहे समाज का इतिहास, वर्ग संघर्ष का इतिहास है।'

वर्तमान में उद्योगीकरण एवं पूंजीवादी व्यवस्था ने पूंजीपति एवं श्रमिक दो वर्गों को जन्म दिया है। इन दोनों में अपनेसंघर्ष कहलाता है।-अपने हितों को लेकर होने वाला संघर्ष वर्ग-

4. **राजनीतिक संघर्ष -**राजनीतिक संघर्ष के दो रूप देखने को मिलते हैं पहला -अंतर्राज्यीय व दूसरा अंतर्राष्ट्रीय। एक ही राष्ट्र के विभिन्न राजनीतिक दलों के बीच होने वाला संघर्ष अंतर्राज्यीय कहलाता है। विश्व के विभिन्न राष्ट्रों के बीच होने वाला संघर्ष जिसे अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष कहा जाता है। सत्ता में आने के लिए विभिन्न दलों में होने वाला संघर्ष राजनीतिक संघर्ष है।

5. **अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष -**इस प्रकार का संघर्ष सामूहिक संघर्ष का ही एक प्रकार है। विभिन्न राष्ट्रों के बीच समयसमय पर होने वाले युद्ध अ-ंतर्राष्ट्रीय संघर्ष के ही उदाहरण हैं। भारत और पाकिस्तान तथा भारत और चीन के बीच होने वाले युद्ध अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष के अंतर्गत आते हैं।

मैकाइवर और पेज ने संघर्ष के दो प्रकार - प्रत्यक्ष संघर्ष और अप्रत्यक्ष संघर्ष बताए हैं-

1. **प्रत्यक्ष संघर्ष**- व्यक्ति-व्यक्ति और समूहसामने के संघर्ष प्रत्यक्ष -वाले आमने समूह के बीच होने- संघर्ष ही हैं।

2. **अप्रत्यक्ष संघर्ष**दूसरे के संपर्क में नहीं आकर इस प्रकार से -इसमें दो विरोधी प्रत्यक्ष रूप से एक-दूसरे के हितों या लक्ष्यों की पूर्ति में बाधा पड़ती है। अनियंत्रित प्रतिस्पर्धा और-कार्य करते हैं कि एक युद्ध अप्रत्यक्ष संघर्ष के ही उदाह-विभिन्न राष्ट्रों के बीच चलने वाला शीतरण हैं।

13.5 संघर्ष के कारण

संघर्ष के कई कारण हो सकते हैं। अतीत में संघर्ष का मुख्य कारण एक :व्यक्ति द्वारा दूसरे पर अथवा एक समूह द्वारा दूसरे पर प्रभुत्व जमाना होता था। वर्तमान काल में संघर्ष का मुख्य कारण अधिक प्रभुत्व अधिक लगता है। संघर्ष के मुख्य कारण निम्नांकित हैं:

1. **व्यक्तिगत भिन्नताएं** - व्यक्ति-व्यक्ति में भिन्नता होती है, कोई दो व्यक्ति एक से नहीं होते। शारीरिक गठन, बौद्धिक क्षमता, आदतों, अभिवृत्तियों, मूल्यों एवं स्वभाव में भिन्नता संघर्ष को जन्म देते हैं।

2. **सांस्कृतिक भिन्नताएं**- व्यक्ति का जिस समाज में समाजीकरण हुआ है, उस समाज के मूल्यों, मान्यताओं व रीतिरिवाजों को वह व्यवहार में लाता है। वे सांस्कृतिक भिन्नताए-ं जो समूह के बीच में होती है, व्यक्तियों में भी देखने को मिलती हैं, अतः संघर्ष होता है। परस्पर विरोधी संस्कृतियों में संघर्ष के अवसर अक्सर होते हैं।

3. **परस्पर स्वार्थों का टकराव** -परस्पर स्वार्थों का टकराव भी संघर्ष को जन्म देता है। जब दो व्यक्ति या समूहों में परस्पर विरोधी स्वार्थ होंगे तो संघर्ष होगा। मिलय अधिक पूमालिकों का ध्ये-ंजी का अर्जन करना है जबकि मजदूर अधिक धन लेना चाहता है। अतः संघर्ष होता है। सरकार कम वेतन में अपने कर्मचारियों से काम लेना चाहती है जबकि कर्मचारी अधिक से अधिक वेतन प्राप्त करना चाहते हैं, फलतः दोनों में संघर्ष होता है।

4. **सामाजिक परिवर्तन** -सामाजिक परिवर्तन भी संघर्ष का एक महत्वपूर्ण कारण है। जब समाज की व्यवस्था में परिवर्तन होता है, तब नवीन, विचारों, मूल्यों के कारण संघर्ष पैदा होता है। नवीन परिवर्तन के साथ नए प्रतिमान उभरते हैं जो पुरानी व्यवस्था से मेल नहीं खाते। अतः संघर्ष होता है।

13.6 सारांश

इस इकाई में अंतर्क्रिया, प्रक्रिया की अवधारणा, सामाजिक प्रक्रिया के रूपों, सहगामी सामाजिक प्रक्रिया जैसे सहयोग और असहगामी सामाजिक प्रक्रिया जैसे प्रतिस्पर्धा और संघर्ष पर विचार किया गया है।

यह सभी प्रक्रियाएं प्रत्येक समाज में किसी न किसी रूप में विद्यमान रहती है। सामाजिक प्रक्रियाएं ही समाज को निरंतरता और गति प्रदान करती है। मानव समाज में सहयोग का स्थान प्राथमिक है। सहयोग के बिना मानवीय अस्तित्व के विषय में सोच भी नहीं सकते हैं। लेकिन कोई कितना भी सहयोगी समूह हो, उसमें संघर्ष के कोई न कोई लक्षण अवश्य मिलेंगे। इसी प्रकार, किसी भी संघर्ष में सहयोग या व्यवस्थापन की संभावनाएं अवश्य छिपी रहती हैं। इसी प्रकार प्रत्येक प्रतिस्पर्धा में भी सहयोग के तत्व छिपे रहते हैं।

किसी भी सामाजिक घटना का अध्ययन अंतर्क्रिया के विभिन्न स्वरूपों को दृष्टिगत रख कर करना आवश्यक है। सामाजिक संबंधों, सामाजिक व्यवस्था और स्वयं समाज को भलीभा-ंति समझने के लिए सामाजिक प्रक्रिया एवं इनके प्रमुख स्वरूपों को समझना आवश्यक है।

13.7 बोध प्रश्न

1. संघर्ष की परिभाषा और विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
2. संघर्ष की व्याख्या कीजिए।
3. संघर्ष के कारणों और स्वरूपों पर प्रकाश डालिए।
4. प्रतियोगिता और संघर्ष में भिन्नता बताइए।

13.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. गिलिन, जेपी.और गिलिन जे .एल .; कल्चरल सोशियोलॉजी, मैकमिलन, न्यूयार्क, 1954, पृ .488.
2. डेविस, के,; ह्यूमन सोसायटी, मैकमिलन, न्यूयॉर्क, 1960, पृ .149.
3. मैकाइवर, आर.एच.और पेज सी .एम.; सोसायटी, मैकमिलन, लंदन, 1959, पृ.63.
4. ग्रीन, डब्ल्यू.ए.; सोशियोलॉजी, एन एनालिसिसि ऑफ माडर्न सोसायटी, मेकैग्राओ हिल, 1952, पृ .61.
5. दोशी एस.एल., जैन पी.सी.; समाजशास्त्र नई दिशाएं, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, जयपुर, 2000, पृ .333
6. सिंघी, नरेंद्र कुमार, गोस्वामी वसुधाकर; समाजशास्त्र विवेचन, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 2003, पृ .214.
.7 ,अग्रवालजी ,. के.एस बी पी डी पब्लिकेशंस, आगरा 2009

इकाई-14 समाजीकरण :अर्थ एवं विशेषताएं
(Socialization: meaning & characteristics)

इकाई की रूपरेखा

14.0 प्रस्तावना

14.1 उद्देश्य

14.2 समाजीकरण का अर्थ एवं परिभाषा

14.3 समाजीकरण की विशेषताएं

14.4 सारांश

14.5 बोध प्रश्न

14.6 शब्दावली

14.7 संदर्भ ग्रंथ सूची

14.0 प्रस्तावना

प्रत्येक शिशु जन्म के समय एक शारीरिक ढांचा मात्र होता है । वह न तो अपने बारे में और न ही समाज के बारे में कुछ जानता है और न ही किसी सामाजिक गतिविधि में भाग लेने की स्थिति में होता है । उसमें किसी प्रकार के सामाजिक गुण नहीं होते । वह न तो सामाजिक होता है ,न असामाजिक और न समाज विरोधी । समाज में उसे किस तरह का व्यवहार करना चाहिए, समाज के क्या नियम कानून हैं, समाज के रीति रिवाजों, मूल्यों व मानदंडों आदि से वह अनभिज्ञ होता है लेकिन वह कुछ शारीरिक क्षमताओं के साथ पैदा होता है, इन क्षमताओं के कारण ही वह बहुत कुछ सीख लेता है और समाज का क्रियाशील सदस्य बन जाता है। यह सीखने की क्षमता समाज व सामाजिक संपर्क से ही विकसित होती है । सामाजिक संपर्क के कारण ही व्यक्ति समाज के रीतिरिवाजों -, प्रथाओं, मूल्यों, विश्वासों, संस्कृति एवं सामाजिक गुणों को सीखता है और सामाजिक प्राणी का दर्जा प्राप्त करता है । इस सीखने की प्रक्रिया को ही समाजीकरण कहते हैं । समाजीकरण की प्रक्रिया प्राणी शास्त्रीय प्राणी को सामाजिक प्राणी में बदल देती है ।

बालक का जन्म परिवार में होता है । परिवार समाज की महत्वपूर्ण इकाई है । सर्वप्रथम परिवार के माध्यम से ही बालक अपने सामाजिक, सांस्कृतिक व भौतिक पर्यावरण को आत्मसात करता है । परिवार ही बालक को समाज का प्रकार्यात्मक सदस्य बनाता है । परिणामस्वरूप वह समाज की गतिविधियों में भाग लेने में समर्थ होता है । समाजीकरण की प्रक्रिया व्यक्ति को सामान्य व्यवहार करने में समर्थ बनाती है ।

14.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप -

- व्यक्ति के लिए समाज व सामाजिक संपर्क क्यों आवश्यक है यह जान सकेंगे।
- समाजीकरण के विभिन्न स्तरों के बारे में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- समाजीकरण की प्रक्रिया में परिवार, पड़ोस व मित्र समूह की भूमिका के संदर्भ में विवेचना कर सकेंगे।

14.2 समाजीकरण का अर्थ एवं परिभाषा

समाजीकरण का अर्थ नवजात शिशु को सामाजिक प्राणी बनाने की प्रक्रिया से लिया जाता है। समाजीकरण की अवधारणा का प्रयोग उन प्रक्रियाओं के लिए किया जाता है जिनके द्वारा व्यक्ति को सामाजिकसांस्कृतिक संसार से परिचित कराया जाता है। इस अर्थ - में समाजीकरण वह विधि है जिसके द्वारा संस्कृति को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तांतरित किया जाता है । इसके द्वारा व्यक्ति अपने समूह एवं समाज के मूल्यों, जनरीतियों, लोकाचारों, आदर्शों एवं सामाजिक उद्देश्यों को सीखता है । समाजीकरण का अर्थ निम्न परिभाषाओं से और स्पष्ट हो जाएगा ।

जॉनसन के अनुसार: 'समाजीकरण सीखने की वह प्रक्रिया है जो सीखने वाले को सामाजिक भूमिकाओं का निर्वाह करने के योग्य बनाती है।' इसका तात्पर्य है कि अपनी प्रस्थिति का बोध व उसके अनुरूप भूमिका निभाने की विधि को हम समाजीकरण द्वारा सीखते हैं ।

गिलिन व गिलिन :'समाजीकरण से हमारा तात्पर्य उस प्रक्रिया से है जिसके द्वारा व्यक्ति समूह में एक क्रियाशील सदस्य बनने हेतु समूह की कार्यविधियों से समन्वय स्थापित करता है उसकी परंपराओं का ध्यान रखता है और सामाजिक परिस्थितियों से अनुकूलन करके अपने साथियों के प्रति सहन शक्ति की भावना को विकसित करता है।' गिलिन व गिलिन ने समाजीकरण का आशय एक ऐसी प्रक्रिया से लिया

है जिसके द्वारा व्यक्ति समूह का क्रियाशील सदस्य बनता है । समाजीकरण ही व्यक्ति का सामाजिक परिस्थिति से अनुकूलन कराता है और व्यक्ति में सहनशक्ति की भावना को विकसित करता है ।

ब्रूम व सेल्जनिकके अनुसार समाजीकरण के दो पूरक अर्थ है :ं - 'संस्कृति का हस्तांतरण और व्यक्तित्व का विकास' इसका अर्थ है कि समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा ही एक व्यक्ति अपनी संस्कृति को सीखता है । संस्कृति एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होती है और संस्कृति को सीखकर ही बालक के व्यक्तित्व का विकास होता है ।

टालकॉट पारसंस :व्यक्ति द्वारा सामाजिक मूल्यों को सीखने और उन्हें आंतरीकृत करने को ही समाजीकरण कहते हैं । व्यक्ति समाजीकरण के द्वारा सामाजिक मूल्यों को सीखता ही नहीं वरन् उनको आत्मसात करता है । ये मूल्य उसके मस्तिष्क व व्यक्तिव की स्थायी निधि बन जाते हैं जिससे एक विशिष्ट प्रकार की सामाजिक स्थिति में वह हमेशा वैसा ही व्यवहार करता है ।

हारोलांबोस ने लिखा है: 'वह प्रक्रिया जिसके द्वारा लोग अपने समाज की संस्कृति को सीखते हैं समाजीकरण के नाम से जानी जाती है ।'

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि समाजीकरण सीखने की एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति समूह अथवा समाज की सांस्कृतिक विशेषताओं को ग्रहण करता है, अपने व्यक्तिव का विकास करता है और समाज का क्रियाशील सदस्य बनता है । समाजीकरण द्वारा व्यक्ति सामाजिक मानदंडों को सीखता है और समाज के साथ अपना अनुकूलन करता है, इससे समाज में नियंत्रण बना रहता है। समाजीकरण सभी सदस्यों को समाज सम्मत व्यवहार सिखाकर सामाजिक नियंत्रण की समस्या को हल कर देता है । संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि सामाजिक मानदंडों, मूल्यों व समाज सम्मत व्यवहार को सीखने की प्रक्रिया ही समाजीकरण है जो व्यक्ति को समाजोचित व्यवहार करना सिखाती है ।

14.3 समाजीकरण की विशेषताएं

समाजीकरण के अर्थ एवं परिभाषा द्वारा इसकी कुछ विषेशताएं उभर कर सामने आती हैं जो निम्नलिखित हैं :

- **समाजीकरण आजीवन चलने वाली प्रक्रिया :**समाजीकरण कुछ विशेष समय तक चलने वाली प्रक्रिया नहीं है वरन् बच्चे के जन्म से लेकर मृत्यु तक चलने वाली प्रक्रिया है । समाजीकरण की प्रक्रिया आजीवन चलती रहती है । व्यक्ति जन्म से लेकर मृत्यु तक अनेक प्रस्थितियां धारण करता है और उनके अनुसार भूमिका निर्वाह करना सीखता है। बचपन में वह पुत्रपुत्री के रूप में -

बहिन व अन्य-पिता भाई-मातासंबंधियों के साथ व्यवहार करना सीखता है । बड़े होकर नए पदों के अनुरूप भूमिका का निर्वाह करना सीखता है । समाज में व्यक्ति को अनेक परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है जैसे पदाधिकारी के रूप में यात्रा करते समय क्रेता या विक्रेता के रूप में अलग अलग भूमिकाएं होती हैं जिनके अनुसार उसे व्यवहार करना होता है । इस प्रकार जन्म से मृत्यु तक नईनई प्रस्थितियां हमारे सामने आती रहती हैं तथा हम उनसे संबंधित व्यवहार को - सीखते रहते हैं । मनुष्यके जीवन काल में समाजीकरण की प्रक्रिया कभी समाप्त नहीं होती ।

- **सीखने की प्रक्रिया:** समाजीकरण सीखने की एक प्रक्रिया है । इस सीखने की प्रक्रिया में सामाजिक मूल्यों, मानदंडों एवं समाज स्वीकृत व्यवहारों को लिया जा सकता है । इन समाज सम्मत व समायोजित क्रियाओं को सीखकर व्यक्ति समाज का प्रकार्यात्मक सदस्य बन जाता है । अतः समाज सम्मत व्यवहारों, प्रतीमानों व मूल्यों को सीखना ही समाजीकरण है क्योंकि ये क्रियाएं व्यक्ति को समाज का क्रियाशील सदस्य बनाती हैं, जबकि चोरी करना, गाली देना आदि को समाजीकरण नहीं कहा जाएगा क्योंकि ये क्रियाएं ना तो समाजस्वीकृत है-ं और ना ही इन्हें सीख कर व्यक्ति समाज का क्रियाशील सदस्य बनता है ।
- **समय व स्थान सापेक्ष प्रक्रिया:** समाजीकरण की प्रक्रिया समय व स्थान सापेक्ष है । जो व्यवहार एक समाज में मान्य है किसी दूसरे समाज या स्थान पर वही व्यवहार अमान्य ठहराए जा सकते हैं । उदाहरणार्थ अफ्रीका की मसाई जनजाति में एक दूसरे के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए एक-दूसरे पर थूकना सिखाया जाता है, किंतु यह व्यवहार भारत में अनुचित व निंदनीय माना जाता है । समाजीकरण की प्रक्रिया समय सापेक्ष भी है । समय सापेक्ष का अर्थ है एक समाज में दो भिन्न कालों में समाजीकरण की विषय वस्तु अलगअलग हो सकती है । उदाहरण के लिए - चीन भारत में नव विवाहित वप्राधू से पर्दे की अपेक्षा की जाती थी लेकिन आधुनिक भारत में नए मूल्यों के प्रादुर्भाव से इस प्रकार के व्यवहार की अपेक्षा नव वधू से नहीं की जाती ।
- **संस्कृति को आत्मसात करने की प्रक्रिया :**समाजीकरण की प्रक्रिया में हम संस्कृति को आत्मसात करते हैं जिससे संस्कृति व्यक्तित्व का अंग बन जाती है । संस्कृति के दो रूप हैं) 1) भौतिक संस्कृति)2) अभौतिक संस्कृति । भौतिक संस्कृति के अंतर्गत मानव निर्मित मूर्त वस्तुएं आती हैं जैसे मकान, पंखा, टेबल , पैन आदि । अभौतिक संस्कृति में मानव निर्मित अभौतिक या अमूर्त वस्तुएं आती है जैसे विचार, रीति रिवाज, मानदंड व मूल्य आदि समाजीकरण संस्कृति के दोनों रूपों भौतिक व अभौतिक स्वरूपों को आत्मसात करने की प्रक्रिया है ।
- **समाजीकरण समाज का प्रकार्यात्मक सदस्य बनाने की प्रक्रिया** : समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा व्यक्ति सामाजिक कार्यों में भाग लेने योग्य बनता है । इसी के द्वारा वह प्राणीशास्त्रीय प्राणी से सामाजिक प्राणी में बदल जाता है । पदप्रस्थिति के अनुसार भूमिका निर्वाह करना स-ीख जाता

है और अन्य व्यक्तियों की अपेक्षाओं के अनुसार व्यवहार करने लगता है । समाजीकरण के अभाव में व्यक्ति समाज का प्रकार्यात्मक सदस्य नहीं बन सकता ।

- **स्व का विकास** समाजीकरण के द्वारा :व्यक्ति में स्वयं के प्रति चेतना तथा जागरूकता का विकास होता है । व्यक्ति में इस ज्ञान का विकास होता है कि समाज के अन्य सदस्य उसके संबंध में क्या सोचते हैं । समाजीकरण प्रक्रिया की सबसे प्रमुख विशेषता यही है कि इसके द्वारा व्यक्ति स्वयं का मूल्यांकन दूसरे व्यक्तियों की दृष्टि से करना सीखता है । इसी को समाज शास्त्रियों ने जैसे कूले -,मीड, दुर्खीम आदि ने 'स्व' का विकास कहा है जो कि समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा ही संभव है ।

14.4 सारांश

इस प्रकार समाजीकरण वह तरीका है जिसके द्वारा संस्कृति संचारित होती है और इससे व्यक्ति का जीवन संगठित रहता है । समाजीकरण जीवन पर्यंत चलने वाली प्रक्रिया है । इसी प्रक्रिया के द्वारा बच्चा समूह जीवन में भाग लेना सीखता है और अपने समाज के मूल्यों को ग्रहण करता है । समाजीकरण न केवल हमारे व्यवहार को नियमित करता है बल्कि व्यक्तित्व और आत्म जागरूकता के विकास के लिए भी अपरिहार्य शर्त है । इस प्रकार समाजीकरण के द्वारा जहां एक ओर संस्कृति का संचरण होता है वहीं व्यक्तित्व का विकास भी होता है ।

बिना परिवार व समाज के समाजीकरण संभव नहीं । समाजीकरण के बिना मनुष्य पशुवत रहता है। डेविस ने अन्ना व इसाबिले नामक दो ऐसे समाज से विलग बालकों का उल्लेख किया है जो समाज से पृथक रहे। इसी कारण उनमें मानवोचित गुणों का विकास नहीं हो पाया । मानवोचित गुणों के विकास के लिए समाज से संपर्क जरूरी है । इस प्रकार समाज में रहते हुए ही समाजीकरण हो सकता है उसी के द्वारा व्यक्तित्व व संस्कृति का विकास संभव है

14.5 बोध प्रश्न

1. समाजीकरण क्या है ?
2. समाजीकरण की प्रक्रिया के टॉलकॉट पारसंस ने कितने स्तर बताए हैं ?

- बोध प्रश्नों के उत्तर

1.सामाजिक मानदंडों, मूल्यों व समाज समस्त व्यवहार को सीखने की प्रक्रिया ही समाजीकरण हैं ।

2.टॉलकॉट पारसंस ने समाजीकरण प्रक्रिया के चार स्तर बताए हैं वे इस प्रकार से हैं -

(i मौखिक स्तर (

(ii शौच सोपान (

(iii (ऑडियस

(iv किशोरावस्था स्तर (

14.6 शब्दावली

1. **समाजीकरण**समाज सम्मत मानद - ंडों को सीखने की प्रक्रिया ही समाजीकरण है ।

2. **प्रस्थिति** किसी वि -शिष्ट व्यवस्था में निर्दिष्ट समय में व्यक्ति को जो स्थान प्राप्त होता है, वह उनकी प्रस्थिति कहलाती है ।

3. **भूमिका**प्रस्थिति का गति - शील पहलू भूमिका है ।

4. **मानदंड**संस्कृति द्वारा अनु - मोदित व्यवहार के तरीके मानदंड हैं।

14.7 संदर्भ ग्रंथ सूची

(1) सिंह, जे.पी., समाजशास्त्रअवधारणाए :ं एवं सिद्धांत , प्रेंटिस हाल इंडिया -, नई दिल्ली, 2003 ।

(2) दोषी, एस.सी.एवं जैन पी .एल., समाजशास्त्र नई दिशाए ,नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर 1998 ।

(4) सिंधी, एन एवं गोस्वामी .के., वसुधाकर, समाजशास्त्र विवेचन, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर : 2005

(5) अग्रवाल ,जी ,. के.एस बी पी डी पब्लिकेशंस, आगरा 2009

इकाई-15 समाजीकरण के स्तर, अभिकरण एवं सिद्धांत
(Stages, agencies and theories of socialization)

इकाई की रूपरेखा

15.0 प्रस्तावना

15.1 उद्देश्य

15.1 समाजीकरण के स्तर
15.2 समाजीकरण के अभिकरण
15.3 समाजीकरण के प्रमुख सिद्धान्त
15.4 सारांश
15.5 अभ्यास प्रश्न
15.6 संदर्भ ग्रन्थ सूची

15.0 प्रस्तावना

क्या आपने कभी सोचा है कि प्रत्येक चूहा तैरना जानता है, जबकि प्रत्येक मानव तैरना नहीं जानता है। ऐसा क्यों है? चूहों को तैरना कौन सिखाता है? मानव को तैरना क्यों नहीं आता है? इन प्रश्नों का सम्बन्ध संस्कृति एवं समाजीकरण से है। पशु समाज संस्कृतिविहीन समाज माना जाता है तथा इसमें सभी गुण वंशानुक्रमण द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होते हैं। चूहे तैरना इसलिए जानते हैं क्योंकि उन्हें तैरने का गुण जन्म से ही प्राप्त होता है। संस्कृति मानव समाज का एक अनुपम गुण है। मानव समाज में व्यवहार सम्बन्धी कोई भी गुण जन्म से हस्तान्तरित नहीं होता है, अपितु मानव व्यवहार सीखा हुआ व्यवहार होता है। प्रत्येक मानव इसलिए नहीं तैर पाता क्योंकि उसने तैरना नहीं सीखा है। संस्कृति सीखा हुआ व्यवहार है तथा इसको एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तान्तरित करने का कार्य समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा सम्भव होता है। इसलिए समाजीकरण मानव समाज में होने वाली एक प्रमुख प्रक्रिया मानी जाती है।

वस्तुतः शिशु जन्म के समय एक शारीरिक ढाँचा अर्थात् अस्थि–मांस का ढाँचा मात्र होता है क्योंकि उसे न तो अपने बारे में कुछ पता होता है और न ही वह समाज के बारे में कुछ जानता है। जैसे–जैसे वह बड़ा होता जाता है वह प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप में सभी सम्पर्क में आने वाले लोगों एवं समूहों (जैसे माता–पिता, अन्य परिजन, पड़ोसी, मित्र, विद्यालय आदि) से कुछ–न–कुछ सीखता रहता है। वह केवल भौतिक जगत के बारे में ही नहीं सीखता, अपितु अच्छे या बुरे लड़के/लड़की से क्या तात्पर्य है, यह भी सीखता है। समाज के मूल्यों एवं आदर्शों का आन्तरीकरण भी सीख की इसी प्रक्रिया के माध्यम से होता है। सीखने की यही प्रक्रिया समाजशास्त्र में समाजीकरण कही जाती है।

15.1 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में समाजीकरण की अवधारणा को समझाने का प्रयास किया गया है। इसके साथ ही इसकी विशेषताओं, समाजीकरण के अर्थ को अधिक स्पष्ट करने के उद्देश्य से इससे मिलती–जुलती अवधारणाओं, इसके महत्त्व, सोपानों (अवस्थाओं), प्रमुख अभिकरणों एवं सिद्धान्तों को स्पष्ट करना भी इस इकाई का उद्देश्य है। आशा है कि इस इकाई को पढ़ने के बाद, आप :

- समाजीकरण की अवधारणा को समझ पाएँगे;
- समाजीकरण की प्रकृति अर्थात् इसे स्पष्ट करने वाली विशेषताओं की चर्चा कर पाएँगे;
- समाजीकरण की प्रक्रिया के सोपानों (अवस्थाओं) की व्याख्या कर पाएँगे;
- समाजीकरण के प्रमुख अभिकरणों को स्पष्टतया समझ पाएँगे; तथा
- समाजीकरण की व्याख्या करने वाले प्रमुख सिद्धान्तों को स्पष्टतया समझ पाएँगे।

15.2 समाजीकरण के स्तर

समाजीकरण सीखने की ऐसी प्रक्रिया है जो आजीवन चलती रहती है । यह प्रक्रिया काफी लम्बी होती है अतः विभिन्न मनोवैज्ञानिकों एवं समाज शास्त्रियों ने समाजीकरण को कई स्तरों में विभक्त कर देखने का प्रयास किया है । मानव शरीर की विशिष्ट संरचना के कारण उसमें सीखने की विशिष्ट क्षमता पायी जाती है और सामाजिक सीख के द्वारा वह अपने व्यक्तित्व का विकास करता है । सीखने का कार्य केवल समाज में ही संभव है । अतः पारसन्स कहते हैं कि बच्चा उस पत्थर के समान है जिसे जन्म के समय समाज रूपी तालाब में फेंक दिया जाता है, जिसमें रहकर वह अपना समाजीकरण करता है और समाज का अंग बन जाता है।टॉलकट पारसन्स ने समाजीकरण के किशोरावस्था तक चार ही सोपान निम्न प्रकार से बताये हैं-:

- मौखिकावस्था
- शौच सोपान
- ऑडियस सोपान
- किशोरावस्था

मौखिकावस्था :गर्भ में भ्रूण आरामपूर्वक रहता है । जन्म के समय शिशु प्रथम संकट का सामना करता है, उसे सांस लेनी पड़ती है, उसे भूख लगती है , पेट भरने के लिए उसे श्रम करना पड़ता है । उसे सर्दी, गर्मी, गीलेपन आदि से पीड़ा होती है, वह रोता चिल्लाता है । इस अवस्था में बालक का मुंह महत्वपूर्ण

भूमिका निभाता है क्योंकि वह अपने मन का संतोष या दुख मुंह के हाव भावों द्वारा ही अभिव्यक्त करता है । इस स्थिति में वह मौखिक निर्भरता स्थापित करता है । समाजीकरण का यह प्रथम स्तर है । इस अवस्था में शिशु अपने भोजन के बारे में संकेत देना शुरू करता है। शिशु अपना सुख दुख मुंह के माध्यम से व मुंह के हाव भाव से प्रकट करता है इसलिए इसे मौखिक अवस्था कहते हैं । इस अवस्था में बच्चा परिवार के सभी सदस्यों से संबंध स्थापित नहीं कर पाता, केवल माता से ही वह अंतर्क्रिया कर पाता है । पारसंस कहते हैं कि माता व शिशु की उपसरे सदस्यों के प्रणाली बन जाती है । परिवार के दू-लिए तो बालक महज एक संपदा है । पिता या परिवार का कोई अन्य सदस्य माता की तरह बालक की देखभाल करने लगे तो भी भूमिका विभेद नहीं होता, वह भी माता की भूमिका ही निभाता है । इस अवस्था में बालक अपनी व अपनी मां की भूमिका में अंतर नहीं कर पाता । अतः माता व शिशु 'मिले हुए' रहते हैं । इस स्थिति को फ्रायड ने 'प्राथमिक परिचय' कहा है । मौखिक अवस्था में शिशु कुछ आंतरीकृत करने की स्थिति में नहीं होता । इतना जरूर है कि उसे माता के साथ शारीरिक संपर्क से धुंधली सी उद्दीपन भाव की अनुभूति होने लगती है । इस मौखिक सोपान की अवधि लगभग एक से डेढ़ वर्ष तक की होती है ।

शौच सोपान: विभिन्न समाजों में इस स्तर का काल भिन्नभिन्न है । वैसे सभी समाजों में यह स्तर - एक से पांच वर्ष के बीच की अवधि में माना जाता है । इस स्तर पर बच्चे सेयह अपेक्षा की जाने लगती है कि वह अपनेआ-पको थोड़ा बहुत स्वयं संभाले । इस संदर्भ में उसे शौच प्रशिक्षण दिया जाता है । इस स्तर में बालक दो भूमिकाओं को आंतरीकृत करता है) -1) अपनी और अपनी माता की भूमिका, जिसे वह अपने से भिन्न करने लग जाता है ।)2) इस स्तर पर बालक को सही और गलत के बीच भेद करना सिखाया जाता है । सही कार्यों के लिए एक ओर जहां उसे प्यार का पुरस्कार प्राप्त होता है वहीं पर गलत कार्यों के लिए उसे दंड भी दिया जाता है । बालक इस स्तर पर परिवार के अन्य सदस्यों के साथ भी अंतर्क्रिया करता है और पारिवारिक व्यवहार प्रतिमान को अपनाता है ।

यह अवस्था शौच संकट से आरंभ होती है जिसके अंतर्गत बच्चा स्वयं भी अपना ध्यान रखने लग जाता है । माता से उसका तादात्म्य हो जाता है । वह माता का प्यार पाता ही नहीं बल्कि अपनी ओर से देता भी है। मां उसे शौच संबंधी प्रशिक्षण देती है । मां की भूमिका इस स्तर पर भी समाजीकरण में महत्वपूर्ण होती है । माता का यहां द्विपक्षीय कार्य है । प्रथम तो मांशिशु उप प्रणाली में साधक नेता के - रूप में कार्य करती है, दूसरे पूरे परिवार में बच्चे का प्रतिनिधित्व करती है । अतः इस स्तर पर समाजीकरणकर्ता को स्वयं सामाजिक मूल्यों तथा सामाजिक व्यवहार प्रतिमान के प्रति सजग रहना पड़ता है ताकि बालक का समाजीकरण उचित हो सके । इस स्तर पर बालक बातचीत करना सीखता है तथा चलने-फिरने लगता हैं अब उसके सामाजिक संबंध भी बढ़ जाते हैं क्योंकि वह परिवार के अन्य सदस्यों

के साथ अंतर्क्रिया करने लगता है । इस अवस्था में बालक को थोडा कष्ट भी होता है क्योंकि यही वह अवस्था है जिसमें मां उनकी दूध पीने की आदत में परिवर्तन लाना चाहती है।

ऑडियस या गुप्तावस्था स्तर :ऑडियस स्तर सामान्यतया चौथे वर्ष से प्रारंभ होकर बारह या तेरह वर्ष की आयु तक रहती है । मनोवैज्ञानिकों ने इस चरण को ऑडियस संकट का काल कहा है। इस अवस्था में बालक यौन भेद की ओर सहज आकर्षण का अनुभव करता है । यही वह समय है जब उसमें ऑडियस कॉम्पलैक्स व इलेक्ट्रा कॉम्पलैक्स दो प्रकार की ग्रंथियां जन्म लेती है ।)1) ऑडियस कॅाम्पलैक्स लड़के की उस भावना को कहते हैं जिसके अनुसार वह अपनी मां से प्यार करता है और वह चाहता है कि उसका पिता उसकी मां को प्यार न करें ।)2) इलेक्ट्रा कॅाम्पलैक्स लड़कियों की उस भावना को कहते हैं जिसमें वह चाहती है कि उनके पिता उनसे प्यार करें न कि उनकी माता से । ये भावनाएं चार से बारह वर्ष की अवस्था में होती है । इसमें लड़के व लड़कियां क्रमशः मातापिता से प्यार करना चाहते हैं - आपस मे (पिता-माता) पत्नी-और चाहते हैं कि पतिं प्यार न करें । उन्हें अपने माता पिता से-ईर्ष्या होती है । फ्रायड ने कहा है कि इस अवस्था में बच्चों में यौन भावना जाग्रत हो जाती है , जिससे लड़के अपनी मां व लड़कियां अपने पिता से प्यार करने लग जाते हैं ।

इस अवस्था में समाजीकरण की प्रक्रिया दो रूपों में होती है **)1) सामाजिक भूमिका से तादात्म्यीकरण**-सामाजिक भूमिका से तादात्म्यीकरण करने के लिए वह अपनी भूमिका को आंतरीकृत करता है, उससे संबंधित योग्यता को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है अर्थात बालक पिता, भाई व परिवार के अन्य सदस्यों की आशाओं के अनुरूप भूमिका निभाना सीखता है।**) 2) सामाजिक समूहों से तादात्म्यीकरण** -सामाजिक समूहों से तादात्म्यीकरण करने के लिए वह परिवार, अपने लिंग के साथियों, विद्यालय के साथियों व मित्रों के अनुरूप कार्य करता है । जॉनसन के अनुसार बालक समाजीकरण के तीसरे सोपान में तीन प्रकार से तादात्म्य स्थापित करता है ।)1) परिवार)2) मित्र मंडली)3) समाज के अनुरूप व्यवहार करके ।

किशोरावस्था स्तर :किशोरावस्था मानव जीवन का एक संक्रांति काल है । इस स्तर पर बच्चे अपने माता-पिता के नियंत्रण से मुक्त होना चाहते हैं । इसी काल में कैशोर्य संकट उपस्थित होता है । इस अवस्था में लड़के लड़कियों में शारीरिक परिवर्तन स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ने लगते हैं । यौन संबंधी-ज्ञान होने लगता है लेकिन यौन संबंधों की स्वतंत्रता न होने से किशोरावस्था में विभिन्न प्रकार के तनाव देखने को मिलते हैं । यह वह काल है जब वह सीमांत संस्कृति पर होता है अर्थात किशोर को बड़े व छोटे दोनों ही से खुले मन से स्वीकार नहीं करते । यह स्थिति उसके जीवन में उदात्तीकरण के रूप में अभिव्यक्त होती है । उदात्तीकरण के अनुसार वह छोटो का साथ छोड़ने व बड़ों का साथ न मिल पाने के

कारण इस मानसिक तनाव की स्थिति का हल अन्य कार्यों में देखता है अतः या तो वह अच्छा विद्यार्थी बन जाता है या बुरी प्रवृत्तियों में पड़ जाता है । इस काल में उसके साथ किए जाने वाले व्यवहार पर ही उसकी उन्नति व अवनति निर्भर करती है ।

इस स्तर पर किशोर से यह आशा की जाती है कि वह अपने बारे में स्वयं निर्णय ले लेकिन साथसाथ - यह भी अपेक्षा की जाती है कि वह निर्णय परंपरागत हो तथा सामाजिक व्यवहार प्रतिमान से मेल खाता हो । किशोर को न केवल परिवार के सदस्यों अपितु पासपड़ोस-, विद्यालय तथा अन्य द्वितीयक समूहों के सदस्यों से सामंजस्य स्थापित करना होता है । किशोरावस्था एक तनाव का काल होता है । पश्चिमी जगत में तो इस स्तर पर एक किशोर आर्थिक रूप से स्वतंत्र होकर अपना अलग परिवार भी बसाता है । इस स्तर पर व्यक्ति से यह आशा की जाती है कि वह सामाजिक सांस्कृतिक पर्यावरण के अनुरूप व्यवहार करे ।

ये चारों समाजीकरण के प्रमुख सोपान हैं । यहां यह नहीं समझा जाना चाहिए कि इन चार चरणों के बाद जीवन में समाजीकरण की प्रक्रिया रूक जाती है या समाप्त हो जाती है । यह प्रारंभ में ही स्पष्ट कर दिया गया है कि समाजीकरण की प्रक्रिया आजीवन चलती रहती है । महत्वपूर्ण बात यह है कि उपर्युक्त चार सोपान व्यक्तित्व के लिए रचनात्मक हैं क्योंकि हमारा मूलभूत व्यक्तित्व इस काल तक बन चुका होता है । इन सोपानों के पश्चात अन्य सोपान भी समाजीकरण के लिए महत्वपूर्ण हैं । जो निम्नलिखित हैं -

युवावस्था: इस अवस्था में व्यक्ति को अनेक नए पद प्राप्त होते हैं। उसे पति, पिता, दामाद, अधिकारी आदि की प्रस्थितियां प्राप्त होती है । युवा होने पर व्यक्ति को जितनी भी नई प्रस्थितियां मिलती हैं उन सबकी भूमिका अपेक्षाओं का उसे निर्वाह करना पड़ता है । यह अवस्था उत्तरदायित्वों से भरी हुई होती है । इस - कभी उसे भूमिका -अवस्था में परिवार व बाह्य जगत में महत्वपूर्ण दायित्वों को निभाता है । अतः कभी संघर्ष की स्थिति का सामना करना पड़ता है क्योंकि विभिन्न प्रस्थितियों का एक साथ पालन करना कठिन होता है ।

प्रौढ़ अवस्था : इस अवस्था में व्यक्ति पर और अधिक जिम्मेदारियां आ जाती हैं । उस पर बच्चों की शिक्षा, विवाह की जिम्मेदारी आ जाती हैं एवं व्यवसाय या वरिष्ठ अधिकारी के रूप में दायित्व संभालना होता है । जॉनसन कहते हैं कि वयस्कों का समाजीकरण सरल होता है क्योंकि वयस्क साधारणतः (अ) जिस न (ब) उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कार्य करने को प्रेरित होता है जो स्वयं देख चुका हैई प्रस्थिति को वह आंतरीकृत करने का प्रयास करता है उसमें और पुरानी स्थितियों में काफी साम्य होता है (स)

ला भाषा के माध्यम से आसानी से बोधगम्यसमाजीकरण करने वा संबंध स्थापित कर सकता है । इन तीनों से समाजीकरण की प्रक्रिया सरल हो जाती है ।

वृद्धावस्था: वृद्धावस्था में व्यक्ति में शारीरिक, मानसिक व सामाजिक दृष्टि से कई परिवर्तन आ जाते हैं । अब उसे दादा, परदादा, नाना, श्वसुर आदि के रूप में नई प्रस्थितियां प्राप्त होती हैं और वह उनके अनुसार भूमिका निभाता है । क्षीणकारी शारीरिक परिवर्तनों के कारण क्षमताएं और आकांक्षाएं भी घट जाती हैं। उसमें दुर्बलता आ जाती है । कार्य करने का पूर्ववत सामर्थ्य नहीं रहता । इस अवस्था में वह सेवा निवृत्त हो जाता है । अब वह आर्थिक रूप से कमाने योग्य नहीं रहता । अतः उसे पराश्रित रहना पड़ता है । अधिक कार्य न कर पाने के कारण वृद्ध प्रायः भार समझे जाने लगते हैं । अतः पारिवारिक तनाव की स्थिति भी उपस्थित हो जाती है। पीढ़ीगत भेद के कारण नवीन पीढ़ी से उसका सामंजस्य नहीं हो पाता जिससे वह कुंठाग्रस्त हो जाता है । अतः यहां भी वृद्ध व्यक्ति को समाजीकरण की आवश्यकता पड़ती है । इस अवस्था में वृद्धों में एक तरफ पूर्वावस्थाओं में समाजीकृत भूमिकाओं के विसर्जन की प्रक्रिया शुरू हो जाती है तो दूसरी तरफ अवकाश कार्यों से सामंजस्य की । यद्यपि वृद्ध महत्वपूर्ण सामाजिक उत्तरदायित्वों का परित्याग कर देते हैं फिर भी सामाजिक परिस्थितियों व परंपराओं के अनुसार वे अनेक हल्के फुल्के कार्य करते हैं जैसे बच्चों की, घर की व बगीचे की देखभाल आदि । अनुभवी परामर्शक के रूप में उनका महत्व समाज में सदैव ही बना रहता है । संक्षेप में वृद्ध व्यक्तियों को सामाजिक व्यावसायिक व वैचारिक क्षेत्रों में अनेक प्रकार के समझौते करने पड़ते हैं । नई परिस्थितियों में व्यावहार के नए प्रतिमान उन्हें सीखने ही नहीं पड़ते अपितु उनके संदर्भ में उन्हें आचरण भी करना पड़ता है ।

इस प्रकार किसी व्यक्ति के व्यक्तिव के विकास में समाजीकरण की सबसे प्रमुख भूमिका होती है । व्यक्तिव का विकास सिर्फ जैविक प्रक्रिया नहीं है बल्कि सामाजिक प्रक्रिया है । व्यक्ति जन्म से ही अपने गुणों को प्राप्त नहीं करता बल्कि समाज के सदस्य के रूप में वह धीरेधीरे अर्जित करता है । लु-ंडबर्ग ने अपनी कृति 'सोशयोलॉजी' में समाजीकरण को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि व्यक्ति का व्यवहार जब समाज के अनुरूप होता है तो उसे समाजीकरण से व्यक्त करते हैं ।

15.3 समाजीकरण के अभिकरण

बाल्यावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक व्यक्ति के जीवन में जितने भी लोग आते हैं उन सभी से वह कुछ न कुछ अवश्य सीखता है । इसलिए कहा जाता है कि समाजीकरण के बहुत सारे अभिकरण होते हैं । इसके बावजूद कुछ ऐसे अभिकरण हैं जो विश्वव्यापी स्तर पर समाजीकरण की प्रक्रिया में अहम भूमिका निभाते हैं । किंबाल यंग ने लिखा है कि समाज के अंतर्गत'समाजीकरण के विभिन्न साधनों में परिवार सबसे महत्वपूर्ण है । परिवार के अंतर्गत मातापिता ही साधारणतया सबसे महत्वपूर्ण व्यक्ति होते -

हैं । समाजीकरण के अन्य साधनोंं में पड़ोस, सगे-संबंधी, प्राथमिक समूहों के सदस्य तथा बाद में द्वितीयक समूहों की सदस्यता आती है । समाजीकरण करने वाली संस्थाओं को दो भागों में विभाजित किया गया है -

- प्राथमिक संस्थाएं
- द्वैतीयक संस्थाएं

21.5.1 प्राथमिक संस्थाएं :प्राथमिक संस्थाएं वे हैं जहां बालक का प्रारंभिक स्तर का समाजीकरण होता है , जिसमें उसके मूलभूत व्यक्तित्व का निर्माण होता है । ये संस्थाएं निम्न हैं

(अ(परिवारसमाज का निर्माण और उसकी निर :ंतरता परिवार के द्वारा ही संभव है । शिशु परिवार में जन्म लेता है अतः सर्वप्रथम अपने समाज एवं संस्कृति के बारे में परिवार में ही सीखता है। बोलना, खड़ा होकर चलना, ढंग से रहना, वस्त्र पहनना, विभिन्न प्रकार के लोगों के साथ व्यवहार करने के संबंध में सर्वप्रथम वह परिवार में ही सीखता है । परिवार में ही वह उचित अनुचित में भेद करना सीखता है उसमें नैतिकता के भाव उत्पन्न होते हैं । भाषा का प्रयोग विभिन्न लोगों के साथ अनुकूलन करना, बड़ों की आज्ञा पालन करना, पारिवारिक आदर्श व मूल्य व आदर्श नागरिकता का पाठ परिवार से ही सीखता है । अतः कहा जाता है कि परिवार शिशु की प्रथम पाठशाला है । बच्चा परिवार का ही प्रतिरूप होता है । परिवार से ही बालक को प्रस्थिति व भूमिका का ज्ञान होता है।

परिवार एक सार्वभौमिक संस्था है, अतः समस्त विश्व में यह समाजीकरण की आधारभूत संस्था है । पारसंस ने व्यक्तित्व निर्माण के लिए परिवार को अत्यधिक महत्वपूर्ण माना है । निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि परिवार बालक के व्यक्तित्व को विकसित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है इसी कारण व्यक्ति के समाजीकरण में परिवार की भूमिका महत्वपूर्ण होती है ।

(ब(मित्रों का समूहबच्चा घर से बाहर जिस दूसरी समाज व्यवस्था में अंतर्क्रिया करता है वह मित्र : समूह होता है । बच्चा घर से बाहर निकल कर अपने साथियों के साथ खेलता है जहां वह अनेक प्रकार के व्यवहारों को सीखता है खेल के नियम -, अनुशासन, नेतृत्व के गुण, अन्य साथियों से अनुकूलन करना आदि वह अपने साथी समूह में ही सीखता है । खेलते समय उसमें परस्पर सहयोग, प्रतिस्पर्धा, संघर्ष, सहकारिता आदि गुण विकसित होते हैं । ब्रूम व सेल्जनिक ने कहा है कि मित्रों के समूह का आधुनिक युग में अत्यंत महत्व है क्योंकि 'आधुनिक व्यक्ति' दूसरों के मूल्यों व विश्वासों में अधिक आस्था रखता है ।

(स(पड़ोसपड़ :ोस का भी बच्चे के समाजीकरण में महत्वपूर्ण योगदान होता है । शहरों की तुलना में गांवों में पड़ोस का अधिक प्रभाव होता है । बच्चे अनजाने में ही पड़ोसी से ही कई बातें सीख जाते हैं उसका वहां के लोगों व बच्चों पर प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है । व्यक्ति जिस ढंग के परिवेश में रहता है उसका प्रभाव उसके व्यक्तित्व में अवश्य दिखाई पड़ता है ।

(द(नातेदारी समूहः नातेदारी समूह में रक्त एवं विवाह से संबंधित सभी रिश्तेदार आ जाते हैं । अतः भाईबहिन-, पतिपत्नी-, सालेसाली -, सासससुर व उनके भी दूर के संबंधी हमारे संबंधी हो जाते हैं । इन - सबसे हमारापृथकपृथक- व्यवहार होता है । किसी के साथ परिहास का तो किसी के साथ परिहार का व किसी से माध्यमिक संबंध है । इन सब के पृथकपृथक व्यवहार प्रतिमानों को हम सीखते हैं । प्रस्थिति - व भूमिका की श्रृखलाएं व्यवहार के द्वारा हम आत्मसात करते जाते हैं ।

(य(विवाहः विवाह का भी व्यक्ति के जीवन पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है । विवाह के बाद लड़के व लड़की को पतिपत्नी की भूमिका निभानी होती है । उन्हें न-ए दायित्वों का निर्वाह करना होता है । एक दूसरे के लिए त्याग करना होता है , परस्पर निष्ठा व विश्वास रखना होता है । नई प्रस्थितियां व भूमिकाएं विवाह के उपरांत ही ग्रहण की जाती हैं जिनके साथ तादात्म्य व आंतरीकरण करना होता है।

21.5.2 द्वितीयक संस्थाएं

(अ(**शिक्षण संस्थाएं**शिक्षण संस्थाए :ं हमें समाज का प्रकार्यात्मक सदस्य बनाती हैं और यही समाजीकरण है । शिक्षण संस्थाओं में समाजीकरण के तीन स्त्रोत है)1) गुरूजन)2) सहपाठी)3) पुस्तक। इन्हीं तीन चीजों के मिलने से स्कूली शिक्षा का वातावरण निर्मित होता है जिसके प्रभाव से व्यक्तित्व का विकास होता है । यहां व्यक्ति नवीन ज्ञान अर्जित करता है, उसकी मानसिक क्षमता का विकास होता है । व्यक्ति समाज व संस्कृति के बारे में ज्ञान प्राप्त कर व्यक्तित्व में निखार लाता है ।

(ब(**राजनीतिक संस्थाएं** :राजनीतिक संस्थाएं व्यक्ति को शासन, कानून, अनुशासन आदि सीखाती हैं। ये व्यक्ति को उसके कर्तव्यों और अधिकारों के प्रति जागरूक करती हैं । ये संस्थाएं समाज की दिशा का ज्ञान कराती हैं जिसके द्वारा व्यक्ति समाज में अपना समाजीकरण कर सकता है।

(स(**धार्मिक संस्थाएं** :व्यक्ति के जीवन पर धर्म का गहरा प्रभाव होता है । धार्मिक संस्थाएं हमें ईश्वर के बोध से अवगत कराती हैं । व्यक्ति में पवित्रता, न्याय, सच्चरित्रता, कर्तव्य परायणता, ईमानदारी, दया आदि गुणों का विकास करने में धर्म प्रमुख भूमिका निभाता है। धार्मिक संस्थाएं सीखाती हैं कि मंदिर या पवित्र स्थल पर कैसा व्यवहार करना चाहिए । इस प्रकार ये संस्थाएं व्यक्ति को धार्मिक शास्त्रों से परिचित कराती हैं ।

(द(**आर्थिक संस्थाएं**आर्थिक संस्थाए :ं व्यक्ति को जीवन यापन के लिए समर्थ बनाती हैं । ये संस्थाएं व्यक्ति को व्यावसायिक संघों से परिचित कराती हैं । व्यक्ति में सहयोग, प्रतिस्पर्द्धा एवं समायोजन के भाव उत्पन्न करती हैं । मार्क्स व वेबलिन का मत है कि अधिक संस्थाएं ही व्यक्ति के जीवन और सामाजिक ढांचे को निर्धारित करती हैं ।

(य(**सांस्कृतिक संस्थाएं** सांस्कृतिक संस्थाओं द्वारा :व्यक्ति समाज की संस्कृति से परिचित होता है । नगरों व महानगरों में कवि सम्मेलन, नाटक, गोष्ठियां आदि के आयोजनों द्वारा व्यक्तियों को उस समाज की संस्कृति से अवगत कराया जाता है । ये संस्थाएं व्यक्ति को अपनी संस्कृति से परिचित कराती हैं। इनके द्वारा व्यक्ति अपनी प्रथाओं, परंपराओं, वेशभूषा, साहित्य, कला, भाषा आदि से परिचित होता है और ये संस्थाएं उसके व्यक्तित्व के विकास में योग देती है।

इन सभी संस्थाओं के अतिरिक्त व्यक्ति व्यवसाय समूह द्वारा द्वारा भी सीखता है । किसी अजनबी के संपर्क में आने पर भी उससे विशिष्ठ प्रकार के व्यवहार करने की अपेक्षा की जाती है इस प्रकार प्राथमिक व द्वितीयक संस्थाओं के माध्यम से व्यक्ति का समाज में समाजीकरण होता है जो आजन्म चलता रहता है ।

15.4 समाजीकरण के प्रमुख सिद्धान्त

समाजीकरण की प्रक्रिया किस प्रकार होती है तथा इसमें क्या–क्या प्रेरणाएँ कार्य करती हैं? इसका उत्तर देने के लिए समाजशास्त्रियों तथा मनोवैज्ञानिकों ने कुछ सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। इन सभी सिद्धान्तों ने 'स्व' के विकास को प्रमुख आधार माना है। 'स्व' के विकास का अर्थ व्यक्ति का स्वयं के बारे में ज्ञान है जो व्यक्ति को समाज में अन्तर्क्रियाएँ करने हेतु समर्थ बनता है। इसके कुछ प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित हैं–

(अ) दुर्खीम का सामूहिक प्रतिनिधान का सिद्धान्त–दुर्खीम ने समाजीकरण की प्रक्रिया को सामूहिक प्रतिनिधान (प्रतिनिधित्व) के आधार पर समझाने का प्रयास किया है। उनका सिद्धान्त पूर्णतः सामाजिक है तथा वह व्यक्ति और समाज के परस्पर सम्बन्धों में समाज को अधिक महत्त्व देता है। उनके अनुसार सामूहिक प्रतिनिधानों का आन्तरीकरण अर्थात् सामूहिक मान्यताओं को आत्मसात करना ही समाजीकरण है। समाज में व्यवहार के जो मान्यता प्राप्त प्रतिमान, मूल्य, विश्वास एवं आदर्श होते हैं, उन्हीं को सामूहिक प्रतिनिधान कहा जाता है। ये सामाजिक विरासत के रूप में पीढ़ी–दर–पीढ़ी हस्तान्तरित होते रहते हैं तथा जैविक व्यक्ति द्वारा इन सामूहिक प्रतिनिधानों को सीखना एवं इनके अनुकूल व्यवहार करने के लिए प्रेरित करना ही समाजीकरण कहलाता है।

सामूहिक प्रतिनिधान, क्योंकि सम्पूर्ण समूह अथवा समाज द्वारा बनाए जाते हैं एवं स्वीकृत होते हैं, इसलिए वे सामाजिक तथ्य होते हैं। सामूहिक प्रतिनिधान के आन्तरीकरण को दुर्खीम ने सामूहिक या सामाजिक अन्तःकरण से जोड़ा है। सामूहिक चेतना का विकास यद्यपि व्यक्तिगत चेतनाओं से होता है, फिर भी यह न तो व्यक्तिगत चेतना ही है और न ही व्यक्तिगत चेतनाओं का संकलन मात्र। यह तो बहुत–सी व्यक्तिगत चेतनाओं के सम्मिश्रण द्वारा विकसित एक ऊँचे एवं श्रेष्ठ स्तर की चेतना होती है। सामूहिक

प्रतिनिधान, समूह अथवा समाज द्वारा स्वीकृत होने के कारण, प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा (व्यक्तिगत आत्मा) में विलीन हो जाते हैं। सभी लोगों द्वारा स्वीकार कर लेने पर ये सामूहिक अन्तः करण (चेतना) का रूप ले लेते हैं। इसलिए समाज का प्रत्येक व्यक्ति इन्हें बिना प्रश्न चिह्न या चुनौती दिए स्वीकार कर लेते हैं। दुर्खीम के अनुसार सामूहिक प्रतिनिधान सामाजिक एकता बनाए रखने में सहायक है।

(ब) कूले का दर्पण में आत्मदर्शन का सिद्धान्त–समाजीकरण का दूसरा प्रमुख सिद्धान्त चार्ल्स कूले द्वारा प्रतिपादित किया गया है। उन्होंने Social Organization एवं Human Nature and the Social Order नामक अपनी पुस्तकों में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि एक जैविक प्राणी किस प्रकार से सामाजिक प्राणी बनता है। यह सिद्धान्त भी सामाजिक है क्योंकि इसका आधार भी व्यक्ति और समाज के परस्पर सम्बन्ध और इनका मूल्यांकन है। कूले के अनुसार बच्चा तीन बातों के बारे में सोचता है–

(1) दूसरे मेरे बारे में क्या सोचते हैं?

(2) दूसरों की राय के सन्दर्भ में मैं अपने बारे में क्या सोचता हूँ?

(3) मैं अपने बारे में सोचकर अपने को कैसा मानता हूँ?

कूले का कहना है कि व्यक्ति समाज रूपी दर्पण में अपना बिम्ब देखता है। इससे वह यह जानने का प्रयास करता है कि दूसरे उसके बारे में क्या सोचते हैं। यह जान लेने के पश्चात् कि दूसरे उसके बारे में क्या सोचते हैं, वह अपने बारे में राय बनाता है। इस राय के परिणामस्वरूप बच्चे में हीनता या श्रेष्ठता के भाव विकसित होते हैं अर्थात् यदि उसे लगता है कि दूसरे उसके बारे में अच्छे विचार रखते हैं तो उसमें श्रेष्ठता की भावना आ जाती है और इसके विपरीत यदि उसे लगता है कि दूसरे उसके बारे में अच्छी राय नहीं रखते, तो उसमें हीन–भाव आ जाते हैं। हम निरन्तर समाज रूपी दर्पण में अपना बिम्ब देखते रहते हैं। अतः 'स्व' के बारे में हमारी धारणा स्थायी नहीं है अपितु समय–समय पर बदलती रहती है।

(स) फ्रायड का समाजीकरण का सिद्धान्त–फ्रायड ने कामवृत्तियों को मानव व्यवहार के संचालन में प्रमुख स्थान दिया है तथा यौन–भेद में समाजीकरण को **ऑडिपस कॉम्पलैक्स** तथा **इलेक्ट्रा कॉम्पलैक्स** के रूप में समझाने का प्रयास किया है। इतना ही नहीं, उन्होंने सम्पूर्ण समाजीकरण की प्रक्रिया को **इड, इगो** तथा **सुपर–इगो** की अवधारणाओं द्वारा समझाने का प्रयास किया है। 'इड' हमारी मूल प्रेरणाओं, इच्छाओं एवं स्वार्थों से सम्बन्धित है तथा हमारी सभी इच्छाएँ 'इड' द्वारा ही प्रेरित होती हैं। 'इगो' (जिसे 'अहम्' कहा जा सकता है) 'स्व' का चेतन व तार्किक रूप होने के कारण वास्तविकता है, जो यह निश्चित करता है कि व्यक्ति को अमुक कार्य करना चाहिए या नहीं। यह एक प्रकार से व्यक्ति का अन्तःकरण है। 'सुपर–इगो' (जिसे 'पराहम्' कहा जा सकता है) सामाजिक मूल्यों एवं सामाजिक आदर्शों का योग है जिसे कि व्यक्ति ने आत्मसात कर रखा है और जो उसके अन्तःकरण का निर्माण करता है। 'इड' (अपनी इच्छाओं) का 'सुपर–इगो' से सामंजस्य बैठाने या 'इड' और 'सुपर–इगो' के अन्तर्द्वन्द्व की प्रक्रिया से ही समाजीकरण होता है।

'इड', 'इगो' तथा 'सुपर–इगो' का सम्बन्ध हम एक उदाहरण द्वारा समझ सकते हैं। मान लीजिए कि कोई व्यक्ति बिना पैसे दिए मिठाई खाना चाहता है। मिठाई खाना हमारी इच्छा है जो कि 'इड' द्वारा संचालित एवं प्रेरित होती है। 'सुपर–इगो' उस व्यक्ति को यह बतलाता है बिना पैसे मिठाई खाने का कोई नियम समाज द्वारा स्वीकृत नहीं है। 'इड' तथा 'सुपर–इगो' द्वारा व्यक्त विचारों का 'इगो' तार्किक विश्लेषण करता है तथा मिठाई खाने के बारे में निर्णय देता है। यदि 'सुपर–इगो' के रोकने के बावजूद 'इड' से संचालित व्यक्ति जबरदस्ती मिठाई उठा कर खा लेता है तो इसका अभिप्राय यह है कि 'इगो' और 'सुपर–इगो' में सामंजस्य नहीं है और इसी कारण अनेक व्यक्ति समाज विरोधी कार्य करते हैं। यदि 'इगो',

'सुपर–इगो' का कहना मानकर 'इड' को नियन्त्रित कर लेता है तो व्यक्ति सामाजिक मान्यताओं के अनुकूल व्यवहार करने के लिए प्रेरित होता है। यह सिद्धान्त एक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है जिसमें इस बात को मान्यता दी गई है कि मानव व्यवहार का अधिकांश भाग अनदेखा है तथा अचेतन शक्तियों द्वारा संचालित होता है।

(द) मीड का समाजीकरण का सिद्धान्त–समाजीकरण की एक अन्य मनोवैज्ञानिक व्याख्या मीड द्वारा प्रस्तुत की गई है। 'स्व' के विकास सम्बन्धी उनके विचार उनकी पुस्तक Mind, Self and Society में मिलते हैं। मीड फ्रायड के विचारों से सहमत नहीं थे। उनके अनुसार 'स्व' का विकास अनुकरण की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप होता है। शिशु अपने प्रारम्भिक जीवनकाल में जिस किसी व्यक्ति के सम्पर्क में आता है, वह उनके व्यवहार का अनुकरण करने का प्रयास करता है। इस प्रकार, मीड ने अपने सिद्धान्त में 'स्व' के विकास में बालक द्वारा अपने प्रति जागरूकता तथा दूसरों की दृष्टि से अपने मूल्यांकन को महत्त्वपूर्ण माना है। इसे उन्होंने **'मैं'** तथा **'मुझे'** शब्दों द्वारा व्यक्त किया है। 'मैं' दूसरों के व्यवहार का प्रत्युत्तर है, जबकि 'मुझे' मेरे द्वारा किया गया व्यवहार है। 'मैं' और 'मुझे' एक ही चीज के दो पहलू (अर्थात् विषय व वस्तु) हैं जिनसे समाजीकरण होता है। दूसरों की दृष्टि से वह अपना मूल्यांकन इसलिए करता है क्योंकि वह जानता है कि दूसरों को सन्तुष्ट करके ही उसकी अपनी इच्छाएँ पूरी हो सकती हैं और उसे स्वयं को सन्तुष्टि मिल सकती है।

मीड ने इस सिद्धान्त को **'सामान्यीकृत अन्य'** की अवधारणा द्वारा समझाने का प्रयास किया है। 'सामान्यीकृत अन्य' शब्द से अभिप्राय व्यक्ति की दूसरों के मूल्यांकन द्वारा अपने बारे में बनी धारणा है जिसका कि वह आन्तरीकरण कर लेता है। वह अपनी भूमिका निभाने के साथ–साथ अपनी तुलना 'सामान्यीकृत अन्य' से करता है और इसी से उसका समाजीकरण होता है। मीड के अनुसार समाजीकरण की प्रक्रिया में भूमिका ग्रहण करना एक अत्यावश्यक प्रक्रिया है।

15.7 सारांश

समाजीकरण सीखने की एक प्रक्रिया है। इसी के माध्यम से मानव शिशु एक सामाजिक प्राणी के रूप में विकसित होता है। प्रत्येक समाज की संस्कृति समाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से ही एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती है। यह आजन्म चलने वाली प्रक्रिया है। समाजीकरण की प्रक्रिया अनेक स्तरों अथवा सोपानों पर होती है तथा इसमें विविध प्रकार के अभिकरण सहायता प्रदान करते हैं। परिवार, क्रीड़ा समूह, शिक्षण संस्थाएँ, जन माध्यम तथा अन्य संस्थाएँ इसके प्रमुख अभिकरण हैं। समाजीकरण की व्याख्या हेतु अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। इन सिद्धान्तों में दुर्खीम का सामूहिक प्रतिनिधान का सिद्धान्त, कूले का दर्पण में आत्मदर्शन का सिद्धान्त, फ्रायड का सिद्धान्त तथा मीड का सिद्धान्त प्रमुख माने जाते हैं।

बोध प्रश्न

1. ऑडियस व इलेक्ट्रा कॉम्पलैक्स क्या है ?

2. समाजीकरण की प्रक्रिया जीवन पर्यंत चलती है, कैसे ?

बोध प्रश्नों के उत्तर

1. ऑडियस कॉम्पलैक्स लड़के की उस भावना को कहते हैं जिसके अनुसार वह अपनी मां से प्यार करता है । चाहता है कि उसके पिता उसकी मां को प्यार न करें । इलेक्ट्रा कॉम्पलैक्स लड़की की उस भावना को कहते हैं जिसके अनुसार वह यह चाहती है कि उनके पिता उनसे प्यार करेंण, न कि माता से ।

2. समाजीकरण कुछ विषेश समय तक चलने वाली प्रक्रिया नहीं अपितु आजन्म चलती रहने वाली प्रक्रिया है क्योंकि मनुष्य को जीवन पर्यंत मनुष्य को नईहैं। जिनके लिए वह नई प्रस्थितियां मिलती रहती- पहले से तैयार नहीं होता उसे सीखना पड़ता है कि वह इन प्रस्थितियों में कैसा व्यवहार करे

15.6 अभ्यास प्रश्न

1. समाजीकरण क्या है? समाजीकरण के प्रमुख अभिकरणों का संक्षेप में उल्लेख कीजिए।
2. समाजीकरण को परिभाषित कीजिए तथा इसके प्रमुख सिद्धान्त बताइए।
3. समाजीकरण से आप क्या समझते हैं? इसके बारे में कूले द्वारा प्रतिपादित 'दर्पण में आत्मदर्शन' के सिद्धान्त की संक्षिप्त विवेचना कीजिए।

15.7 संदर्भ ग्रंथ सूची

(1) सिंह, जे.पी., समाजशास्त्रअवधारणाए :ं एवं सिद्धांत , प्रेंटिस हाल इंडिया -, नई दिल्ली, 2003 ।

(2) दोषी, एस.सी.एवं जैन पी .एल., समाजशास्त्र नई दिशाए ,नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर 1998 ।

(4) सिंधी, एन एवं गोस्वामी .के., वसुधाकर, समाजशास्त्र विवेचन, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर : 2005

(5) अग्रवाल ,जी ,. के.एस बी पी डी पब्लिकेशंस, आगरा 2009